

## अनुक्रमणिका.

हरिवंश ( उत्तरार्ध ).

| अध्याय   | पृष्ठ. | अध्याय   | पृष्ठ. |
|--|--------|--|--------|
| <b>भविष्यपर्व.</b>   |        |  |        |
| १ ला. जनमेजयाचे पुत्र.   | ५७३    | १९ वा. योग्याचीं राजस-तामस विघ्ने व सिद्धि.          | ६१५    |
| २ रा. जनमेजयाचा व्यासास राजसूयासंबंधें प्रश्न.   | ५७४    | २० वा. ब्रह्मदेवाचें अंगापासून प्राण्यांची उत्पत्ति. | ६१८    |
| ३ रा. व्यासोक्त कलियुगाचें भविष्य.   | ५७७    | २१ वा. क्षत्रयुग किंवा कर्ममार्ग कथन.                | ६२०    |
| ४ था. कलियुगवर्णन चालू.  | ५८०    | २२ वा. योगफलकथन                                      | ६२२    |
| ५ वा. जनमेजयाचा अश्वमेध व इंद्राचें कपट.   | ५८३    | २३ वा. प्राणायाम.                                    | ६२३    |
| ६ वा. भारताचें फल. भविष्यपूर्वातील पुष्करप्रादुर्भाव किंवा पुष्करखण्ड ( अ० ७-३२ ) चा खुलासा. | ५८६    | २४ वा. वेदोक्त वर्णाश्रमधर्मपालन.                    | ६२७    |
| ७ वा. पुष्कर प्रादुर्भाव.  | ५९०    | २५ वा. भक्तिमाहात्म्य.                               | ६२८    |
| ८ वा. द्वितीय प्रश्नोत्तर.   | ५९२    | २६ वा. मोह व विवेक यांचा झगडा.                       | ६२९    |
| ९ वा. समाधी व व्युत्थान.   | ५९३    | २७ वा. ब्राह्मी संपत्ति.                             | ६३२    |
| १० वा. मार्कंडेयाचें मायादर्शन.  | ५९५    | २८ वा. सूर्य-चंद्रादि धारणांचें फल.                  | ६३६    |
| ११ वा. सृष्ट्युत्पत्ति.  | ५९९    | २९ वा. देवासुरांची तपःसिद्धि.                        | ६४१    |
| १२ वा. पिण्डब्रह्माडैक्य.  | ६००    | ३० वा. आध्यात्मिकदृष्ट्या समुद्रमंथन.                | ६४२    |
| १३ वा. मधुकैटभवरप्रदान.  | ६०१    | ३१ वा. बलिराज्य हरण.                                 | ६४४    |
| १४ वा. ब्रह्मदेवकृत ( योगिकृत ) सृष्टि.  | ६०२    | ३२ वा. दक्षाध्वरध्वंस.                               | ६४५    |
| १५ वा. जनमेजयाचा प्रश्न.   | ६०५    | ३३ वा. वराह प्रादुर्भाव वर्णन.                       | ६४८    |
| १६ वा. योग्याचें सामर्थ्य.   | ६०६    | ३४ वा. वराहकृत धरोद्धार.                             | ६५०    |
| १७ वा. योगविधि व निष्काम कर्मफल.   | ६०८    | ३५ वा. धरावर्णन.                                     | ६५०    |
| १८ वा. समाधिसिद्ध होण्याचे वेळचीं लक्षणे.  | ६१३    | ३६ वा. ऊंकारापासून सृष्ट्युत्पत्ति.                  | ६५५    |
|  |        | ३७ वा. आधिपत्यनिर्णय.                                | ६५७    |
|  |        | ३८ वा. हिरण्याक्ष व देवता यांचें युद्ध.              | ६५८    |
|  |        | ३९ वा. वराहकृत हिरण्याक्ष वध.                        | ६५९    |
|  |        | ४० वा. देवतांचें यथोचित स्थापन.                      | ६६०    |

| अध्याय.   | पृष्ठ. | अध्याय   | पृष्ठ. |
|---|--------|--|--------|
| ४१ वा. नृसिंहावतार वर्णन.                             | ६६२    | ६८ वा. कश्यपकृत महापुरुषस्तव.                            | ७२७    |
| ४२ वा. हिरण्यकशिपूचें सभास्थान.                       | ६६५    | ६९ वा. वामनावतार.  | ७२८    |
| ४३ वा. नृसिंहाला पाहून दैत्य च-<br>कित होतात.         | ६६५    | ७० वा. वामनाचा बलीचे यज्ञस्थानीं<br>प्रवेश.              | ७३०    |
| ४४ वा. नृसिंहावर दैत्यांचा शस्त्रप्र-<br>हार.         | ६६६    | ७१ वा. बलीचे त्रिपाद भूमिदान व<br>वामनाचें विराट्स्वरूप. | ७३३    |
| ४५ वा. नृसिंहकृत दैत्य मायेचा<br>परिहार.              | ६६७    | ७२ वा. श्रीकृष्णाचा कैलासास जा-<br>ण्याचा विचार.         | ७३६    |
| ४६ वा. हिरण्यकशिपूचा पराक्रम.                         | ६६८    | ७३ वा. कैलासयात्रावर्णन.                                 | ७४१    |
| ४७ वा. हिरण्यकशिपु वध व ब्रह्म-<br>कृत नृसिंह स्तुति. | ६७१    | ७४ वा. श्रीकृष्णाचा कैलासास नि-<br>घण्याचा बेत.          | ७४५    |
| ४८ वा. दैत्यांची बलीस प्रार्थना.                      | ६७३    | ७५ वा. द्वारावतीचे रक्षणार्थ याद-<br>वांस उपदेश.         | ७४६    |
| ४९ वा. दैत्य सैन्याची तयारी.                          | ६७४    | ६६ वा. कृष्णाचें बदरिकाश्रमीं जाणें.                     | ७४८    |
| ५० वा. दैत्य सेनाविस्तार.                             | ६७६    | ७७ वा. कृष्णाचें बदरिकाश्रमीं आ-<br>तिथ्य.               | ७४९    |
| ५१ वा. दैत्यपक्षीय सैनिक वर्णन.                       | ६७७    | ७८ वा. कृष्णाची समाधि व को-<br>लाहलश्रवण.                | ७५०    |
| ५२ वा. देवसेनेचा विस्तार.                             | ६८१    | ७९ वा. पिशाचांचें आगमन.                                  | ७५२    |
| ५३ वा. देवदैत्य संग्राम.                              | ६८५    | ८० वा. घंटाकर्णाचा ध्यानयोग.                             | ७५४    |
| ५४ वा. जंगी सामना.                                    | ६८६    | ८१ वा. घंटाकर्णास भगवत्प्राप्ति.                         | ७५९    |
| ५५ वा. देवासुर युद्ध.                                 | ६९०    | ८२ वा. घंटाकर्णकृत विष्णुस्तव.                           | ७६०    |
| ५६ वा. कुजम्भाचा उत्कर्ष.                             | ६९७    | ८३ वा. घंटाकर्णमोक्षवर्णन.                               | ७६३    |
| ५७ वा. वृत्रासुराची सरशी.                             | ७००    | ८४ वा. कैलासयात्रावर्णन.                                 | ७६५    |
| ५८ वा. केशिरुद्र युद्ध.                               | ७०३    | ८५ वा. इंद्रादिकांचें आगमन.                              | ७६६    |
| ५९ वा. वृषपर्वा-निकुंभ व यम-<br>प्रन्हाद-युद्ध.       | ७०८    | ८६ वा. महादेवागमन.                                       | ७६८    |
| ६० वा. अनुन्हाद व कुबेर यांचें<br>युद्ध.              | ७१२    | ८७ वा. विष्णुकृत शिवस्तुति                               | ७६९    |
| ६१ वा. वरुण व विप्रचित्ति यांचा<br>सामना.             | ७१५    | ८८ वा. श्रीशिवकृत विष्णु (कृष्ण)<br>स्तुति.              | ७७१    |
| ६२ वा. बृहस्पतिकृत अग्निस्तव.                         | ७१७    | ८९ वा. श्रीविष्णुस्वरूप निरूपण.                          | ७७५    |
| ६३ वा. बलीचें अग्नीशीं युद्ध.                         | ७१९    | ९० वा. शिवकृत श्रीविष्णुस्तोत्र.                         | ७७६    |
| ६४ वा. बलीचें पुरंदराशीं युद्ध.                       | ७२०    | ९१ वा. पौंड्रकाची गर्वोक्ति.                             | ७७८    |
| ६५ वा. बलीस राज्यप्राप्ति.                            | ७२२    | ९२ वा. पौंड्रकनारदसंवाद.                                 | ७७९    |
| ६६ वा. देवमंडळीचें ब्रह्मलोकीं गमन.                   | ७२३    | ९३ वा. पौंड्रकाची द्वारकेवर स्वारी.                      | ७८०    |
| ६७ वा. ब्रह्मदेवाचा उपदेश.                            | ७२६    |  |        |

| अध्याय.                                 | पृष्ठ. | अध्याय.                                | पृष्ठ. |
|---|--------|--|--------|
| ९४ वा. पौंड्रकाचा यादवाशीं सामना.       | ७८१    | १२१ वा. दोही सैन्यांचें पुष्करतीर्थावर |        |
| ९५ वा. सात्यकी आणि पौंड्रक              |        | प्रयाण.                                | ८२३    |
| यांचे विलाप.                            | ७८३    | १२२ वा. पुष्करतीर्थावरील संग्राम.      | ८२५    |
| ९६ वा. सात्यकी आणि पौंड्रक              |        | १२३ वा. विचक्रवध.                      | ८२६    |
| यांचा संग्राम.                          | ७८५    | १२४ वा. हंस आणि बलराम यांचा            |        |
| ९७ वा. सात्यकी आणि पौंड्रक.             | ७८७    | संग्राम.                               | ८२७    |
| ९८ वा. एकलव्याच्या सैन्याचा संहार       | ७८९    | १२५ वा. सात्यकी आणि डिंभक              |        |
| ९९ वा. पौंड्रकयुद्ध.                    | ७९०    | यांचा संग्राम.                         | ८२९    |
| १०० वा. श्रीकृष्ण आणि पौंड्रक           |        | १२६ वा. हिडिंभ पराभव.                  | ८३०    |
| यांचे वीरालाप.                          | ७९१    | १२७ वा. श्रीकृष्ण आणि हंस यांचा        |        |
| १०१ वा. पौंड्रकवध.                      | ७९३    | संग्राम.                               | ८३२    |
| १०२ वा. एकलव्यनिर्णय.                   | ७९४    | १२८ वा. हंसवध.                         | ८३४    |
| १०३ वा. जनमेजयाचा प्रश्न.               | ७९६    | १२९ वा. डिंभकाचा वध.                   | ८३५    |
| १०४ वा. हंस आणि डिंभक यांची             |        | १३० वा. यशोदा आणि नंद यांस             |        |
| उत्पत्ति.                               | ७९६    | श्रीकृष्णाची भेट.                      | ८३६    |
| १०५ वा. हंसादिकांस वरप्राप्ति.          | ७९७    | १३१ वा. श्रीकृष्णाचें द्वारकेस आगमन    | ८३७    |
| १०६ वा. हंस आणि डिंभक यांची             |        | १३२ वा. महाभारतश्रवणाचें पर्वशः        |        |
| मृगया.                                  | ७९९    | फल.                                    | ८३८    |
| १०७ वा. दुर्वासदर्शन.                   | ८००    | १३३ वा. त्रिपुरासुर वध.                | ८४३    |
| १०८ वा. राजपुत्रकृत संन्यासनिंदा.       | ८०२    | १३४ वा. वृत्तांतक्रमनिवेदन.            | ८४७    |
| १०९ वा. दुर्वासमुनीचा कोप.              | ८०३    | १३५ वा. फलश्रुति व दानें.              | ८४८    |
| ११० वा. हंस डिंभकांचा अत्याचार          |        |  |        |
| आणि यतीचें द्वारकाप्रयाण.               | ८०४    |  |        |
| १११ वा. दुर्वासमुनीचें आत्मवृत्त नि-    |        |  |        |
| वेदन.                                   | ८०५    |  |        |
| ११२ वा. श्रीकृष्णाची प्रतिज्ञा.         | ८०९    |  |        |
| ११३ वा. हंस-डिंभकांचें दूतप्रेषण.       | ८१०    |  |        |
| ११४ वा. जनार्दनाचें द्वारकेस प्रयाण.    | ८१२    |  |        |
| ११५ वा. जनार्दनाचें संदेश-निवेदन.       | ८१४    |  |        |
| ११६ वा. श्रीकृष्णाचें उत्तर.            | ८१७    |  |        |
| ११७ वा. हंसवाक्य वर्णन.                 | ८१७    |  |        |
| ११८ वा. सात्यकीचें भाषण.                | ८१८    |  |        |
| ११९ वा. हंस आणि डिंभक यांचे उद्धार      | ८२१    |  |        |
| १२० वा. श्रीकृष्णाचें पुष्कराकडे प्रयाण | ८२२    |  |        |

## योगखंड.

### इंग्रजी भाग.

|                              |     |
|------------------------------|-----|
| १ योगशक्तीचें पुनरुज्जीवन    | ८५१ |
| २ ईश्वरभक्ति.                | "   |
| ३ उपांगें                    | ८५२ |
| ४ अव्याकृत.                  | "   |
| ५ उँकारवर्णन.                | "   |
| ६ चित्तैकाग्र्य.             | ८५३ |
| ७ प्राणायामाचें महत्व.       | "   |
| ८ प्राणायाम.                 | ८५४ |
| ९ वर्ण व प्रकाश यांचें वैभव. | ८५५ |
| १० तेजोऽर्णव.                | ८५६ |

| विषय.                                    | पृष्ठ | अध्याय.                           | पृष्ठ. |
|--|-------|-----------------------------------|--------|
| ११ दिव्यदृष्टी कशी साधावी.               | ,,    | ४४ स्तंभवृत्ति प्राणायाम.         | ८७५    |
| १२ प्रेरित निद्रा.                       | ,,    | ४५ बाह्याभ्यंतरापेक्षी प्राणायाम. | ८७५    |
| १३ या दृष्टीनें कल्पनांस उदात्तत्व चढते. | ८५८   | ४६ तीनही नाड्यांची नांवे.         | ८७७    |
| १४ हे वर्ण पुष्कळांस दृश्य आहेत.         | ८५८   | ४७ गुणत्रयलक्षण, सत्वाचे लक्षण.   | ८७७    |
| १५ मेढूंतून उठणारे वर्ण.                 | ८५८   | ४८ रजोगुणाचें चिन्ह.              | ८७७    |
| १६ वस्तुमात्र आपली छाप मारिते.           | ८५९   | ४९ तमोगुणाचें चिन्ह.              | ८७७    |
| १७ दिव्य दृष्टि.                         | ८५०   | ५० मूलाधारादि चक्रें.             | ८७७    |
| १८ दिव्य दृष्टी.                         | ८६१   | ५१ ध्यान.                         | ८७८    |
| १९ पाणी इ० भारणें.                       | ८६१   | ५२ ध्यानयोगाचें प्राधान्य.        | ८७८    |
| २० दोरे ताईत वगैरेची उपपत्ति.            | ८६२   | ५३ भूध्यान.                       | ८७९    |
| २१ तमोमय पदार्थ पारदर्शक होतात.          | ८६३   | ५४ पुरुषध्यान.                    | ८७९    |
| २२ शांति.                                | ८६४   | ५५ निर्गुणध्यान.                  | ८७९    |
| २३ श्रद्धा व आत्मज्ञान.                  | ८६४   | ५६ उपरति.                         | ८८२    |
| २४ विश्वास.                              | ८६४   | ५७ अंतर्दृष्टीचें चमत्कार.        | ८८२    |
| २५ लिंगशरीर.                             | ८६५   | ५८ कुंडलिनीची जागृति.             | ८८५    |
| २६ माया.                                 | ८६५   | ५९ धारणा. " देशबंधश्चित्तस्य "    | ८८६    |
| २७ आसन.                                  | ८६६   | ६० प्रत्याहार.                    | ८८६    |
| योगखंड-मराठी भाग.                        |       | ६१ पंचभूतधारणा.                   | ८८६    |
| २८ स्त्रियांनीही योग करावा.              | ८६९   | ६२ राजयोग.                        | ८८७    |
| २९ योगाभ्यासाचा विधि.                    | ८६९   | ६३ राजयोगाचीं अंगें.              | ८८८    |
| ३० योगाचीं अंगें.                        | ८७०   | ६४ वैराग्याचे प्रकार.             | ८८८    |
| ३१ अष्टांगांचीं फलें.                    | ८७०   | ६५ लययोग.                         | ८८९    |
| ३२ योगांतील विघ्न.                       | ८७०   | ६६ ध्यानाचें फल.                  | ८८९    |
| ३३ ओंकाराचें स्वरूप.                     | ८७१   | ६७ नादानुसंधान.                   | ८८९    |
| ३४ प्रणव जपाचा विधि.                     | ८७२   | ६८ अवस्था.                        | ८९०    |
| ३५ धारणा विधि.                           | ८७२   | ६९ भक्तियोग.                      | ८९२    |
| ३६ ओंकाराच्या जपाचें फल.                 | ८७३   | ७० भक्तीचें माहात्म्य.            | ८९२    |
| ३७ आसन व त्याचा विधि.                    | ८७३   | ७१ समार्धाचे प्रकार.              | ८९३    |
| ३८ सिद्धासन.                             | ८७३   | ७२ जपाचें लक्षण व प्रकार.         | ८९५    |
| ३९ प्राणायाम.                            | ८७३   | ७३ तपाचें लक्षण.                  | ८९५    |
| ४० प्राणायामाचे चार प्रकार.              | ८७३   | ७४ पंचाग्निसंस्कार.               | ८९५    |
| ४१ प्राणायामाची संक्षिप्त रीति.          | ८७४   | ७५ अविवेचे लक्षण.                 | ८९६    |
| ४२ मूलनाडीला वर खेंचण्याचें प्रयोजन.     | ८७४   | ७६ होम.                           | ८९६    |
| ४३ अभ्यंतरवृत्ति प्राणायाम.              | ८७५   | ७७ विभूतिपाद.                     | ८९६    |





# हरिवंश.

अध्याय पहिला.

भविष्यपर्व.

मंगलाचरण.



नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।  
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

( श्रीगणेशाला वंदन असो. ) ह्या अखिल ब्रह्मांडांतील यच्चयावत् स्थावरजंगम पदार्थांच्या ठिकाणीं चिदाभासरूपानें प्रत्ययास येणारा जो नरसंज्ञक जीवात्मा, नरसंज्ञक जीवात्म्यास सदासर्वकाल आश्रय देणारा जो नारायण नामक कारणात्मा, आणि नारायणात्मक कार्यकारणसृष्टीहून पृथक् व श्रेष्ठ असा जो नरोत्तम—संज्ञक सच्चिदानंदरूप परमात्मा, त्या सर्वांस मी अभिवंदन करितों; तसेंच, नर, नारायण व नरोत्तम या तीन तत्त्वांचें यथार्थ ज्ञान करून देणारी जी देवी सरस्वती, तिलाही मी अभिवंदन करितों; आणि त्या परमकारुणिक जगन्मातेनें लोकहित करण्याविषयीं माझ्या अंतःकारणांत जी स्फूर्ति उत्पन्न केली आहे, तिचे

साह्यानें या भवबंधविमोचक जय म्हणजे हरिवंशमाहात्म्य. ग्रंथास आरंभ करितों.

जनमेजयाचे पुत्र.

शौनक म्हणाला:—हे सौते, जनमेजयाचे पुत्र कोण कोण सांगितले आहेत, व त्यांपैकीं महात्म्या पांडवांचा वंश कोणा पुत्राचे द्वारे चालू राहिला, हें ऐकण्याची मला इच्छा आहे. कारण, त्याविषयीं मला मोठें कौतुक वाटतें. तो सर्व वृत्तांत आपण मला सांगितल्यानें अगदीं स्पष्टपणें समजेल.

१ “ हरिवंश ” हा महाभारताचाच एक अंश असल्यानें महाभारताचेंच मंगलाचरण त्यालाही व्यासांनीं लागू केलें आहे.

सौति म्हणाला:—परीक्षितपुत्र जनमेजयाच्या काश्या नामक स्त्रीच्या ठायीं दोन पुत्र जन्मले. एक चंद्रापीड, हा राजा झाला; व दुसरा सूर्यापीड, ह्याने मोक्षज्ञान संपादिले. चंद्रापीडाला उत्तम धनुर्धर असे शंभर पुत्र होते. या क्षत्रियसंघाला लोकांत 'जनमेजय' अशी संज्ञा होती. या पुत्रांतील ज्येष्ठ पुत्र वाराणस संज्ञक नगरांत राजा झाला. त्या महापराक्रमी राजाचें नांव सत्यकर्ण असें असून त्यानें पुष्कळ दक्षिणा देऊन यथाशास्त्र यज्ञ केला. सत्यकर्णाचा पुत्र प्रतापवान् श्वेतकर्ण हा झाला, पण तो धर्मात्मा पुत्रहीन असल्यामुळे तपोवनांत गेला. तेथें त्याच्यापासून भ्रातृमालिनी या नांवाची यादवी गर्भधारण करती झाली. ती मानिनी सुभ्रु, सुचारु नामक यादवाची कन्या होती. पण तिला गर्भसंभव होतांच तो श्वेतकर्ण राजा, हे धर्मनिष्ठ शौनका, त्याचे पूर्वज पांडव ज्या महाप्रस्थानास गेले होते, तेथें गेला. तो तिकडे जात आहे असें पाहून ती मानिनीही त्याच्या मागून गेली. मागीत त्या साध्वीला कमलाप्रमाणें सुंदरनेत्रांचा पुत्र झाला. पण त्याकुमाराला वनांत टाकून, पूर्वी पतीच्या मागून जाणाऱ्या महाभागा पतिव्रता द्रौपदीप्रमाणें ती पतीच्या मागून चालली. तेव्हां तो राजपुत्र पर्वतावरील कुंजांत पडून रडूं लागला. पण त्याच्यावर छाया करण्याकरितां चोहोंकडून मेघ प्रकट झाले; व चंद्राच्या श्रविष्ठानामक स्त्रीच्या पिप्पलाद व कौशिक या नांवाच्या दोन पुत्रांना त्या बालकास पाहून दया आली. व त्याला उचलून घेऊन त्यांनीं जलानें धुतलें. त्याच्या दोन्ही कुशी रक्तानें माखल्या असल्यामुळे त्यांनीं शिळेवर घांसल्या. तेणेंकरून त्या दोन्ही कुशी बकऱ्याप्रमाणें काळ्या झाल्या व त्या तशाच वाढत गेल्यामुळे तो बकऱ्यासारखा पार्श्वभागांनीं युक्त झाला. म्हणून त्यांनीं

त्याचें अजपार्श्व असें नांव ठेविलें. वेमक नांवाच्या स्वर्गस्थ ऋषीच्या शालागृहांत त्या दोघां ब्राह्मणांनीं त्याचें संवर्धन केलें. तेथें वेमकाच्या भायेंने पुत्ररूपानें त्याचें ग्रहण केलें. त्यामुळे तो वेमकीचा पुत्र झाला; व तेच दोघे ब्राह्मण त्याचे सचिव झाले. या राजासचिवांचे पुत्र व पौत्र एकाच वेळीं तुल्यकाल जिवंत रहात असत. ( दोघांच्या पिढ्या बरोबरीनें चालत. ) अशा रीतीनें हा पांडवांचा वंश प्रतिष्ठित ( स्थिर ) झाला आहे. कारण पूर्वी नहुषाचा पुत्र ययाति याची ( शुक्रशापानें प्राप्त झालेली ) जरा आपले ठिकाणीं घेण्याचें जेव्हां पुरूनें मान्य केलें, तेव्हां त्यावर अत्यंत प्रसन्न होऊन ( आशिर्वादरूपानें ) ययाति म्हणाला, 'एक वेळ ही भूमि चंद्रसूर्यादि ग्रहांविरहितही राहणें शक्य होईल, परंतु पौरववंशीय राजाविरहित मात्र ती कधीही असूं शकणार नाहीं.

## अध्याय दुसरा.

—:०:—

### जनमेजयाचा व्यासांस राजसूयासंवर्धे प्रश्न.

शौनक म्हणाला:—पूर्वी बुद्धिमान् व्यासशिष्य वैशंपायनानें जशीं सांगितलीं होतीं, त्याप्रमाणेंच तूं हीं सर्व पर्व व हरिवंश आम्हांस सांगितला आहेस. इतिहासांसह हें वर्णन तूं सांगूं लागलास म्हणजे सर्व पापांचा नाश करणारे तें आख्यान आम्हांला अमृताप्रमाणें अतिशय संतुष्ट करितें. हे बुद्धिमंता, हें आख्यान सुश्राव्य असल्यानें आमच्या मनालाही जणूं

१ ह्या ठिकाणीं तीन प्रतींचा पाठ 'आचन्द्रार्किग्रहा भूमिर्भवेदपि०' असा आहे. परंतु तो आम्हांस संमत नाही. त्यांत "अपि" पदाचा जोर जातो. त्यापेक्षां 'अचन्द्रार्किग्रहा०' असा पाठ आमचे जवळील पुरातन लेखी पोथींत सांपडला व मन्मथनाथाचाही पाठ या पाठाशीं जुळतो. म्हणून आम्हां तोच स्वीकारिला आहे.

अतिशय आल्हाद देतें. पण, हे सौते, जनमेजय राजानें हें उत्तम आख्यान ऐकून सर्पसत्रानंतर काय केलें ?

सौति म्हणाला:—हें सर्वोत्तम आख्यान ऐकून सर्पसत्रानंतर राजा जनमेजयानें काय आरंभिलें तें सांगतों. तें सत्र संपलें तेव्हां तो परीक्षितपुत्र अश्वमेध करण्याकरितां साहित्य जमवूं लागला. ऋत्विक्, पुरोहित व आचार्य यांस बोलावून आणून तो म्हणाला, “ मीं अश्वमेध यज्ञ करण्याचा निश्चय केला आहे. यास्तव, घोडा सोडा. ” पण इतक्यांत हा त्याचा हेतु ओळखून महात्मा सर्वज्ञ व्यास-मुनि अकस्मात् त्या उदारबुद्धि परीक्षितपुत्राला भेटावयास आले. तेव्हां व्यासऋषि भेटावयास आले असें पाहून जनमेजय राजानें अर्घ्य, पाद्य व आसन देऊन त्यांचें यथाशास्त्र पूजन केलें. नंतर ते दोघे समोरासमोर बसले. हे शौनका, सदस्यही आपापल्या जागीं बसले. नंतर त्या दोघांनीं वेदसंबंधी नानाप्रकारच्या विचित्र गोष्टी केल्या. गोष्टी बोलून झाल्यावर राजानें पांडवांचा आज्ञा व स्तुतिचा खापरपण-जा-अशा त्या मुनीस म्हटलें, “ प्रभो ! बद्ध-र्थयुक्त व वेदाचा आशय पल्लवित करून सांगणारे असें भारत आख्यान कर्णेन्द्रिय तृप्त करणारे असल्यामुळे तें ऐकतांना माझे वर्षही एका निमेषासारखें गेलें. तें विभूतीचा विस्तार करणारें, सर्वांचें यश पसरविणारें आहे. ब्रह्मन्, आपण तें फार चांगलें रचलें आहे; व शंखांतील क्षीराप्रमाणें तें योग्य शिष्यांचे ठायीं अर्पण केलें आहे. स्वर्गसुखानें किंवा अमृता-नेही जशी तृप्ति होत नाही तशीच ही भारती कथा ऐकून माझी तृप्ति होत नाही. हे भगवन्, आपण सर्वज्ञ आहां. यास्तव, आपली अनुमति घेऊन मी आपणांस एक शंका विचारतो. माझी अशी समजूत आहे कीं, हा राजसूयच कुरुं

नाशाला कारण झाला असावा. कारण, अजिंक्य क्षत्रियांचा या संकटांत नाश झाला, आणि यावरून देवांनीं या राजसूयाची योजना युद्धाकरितांच केली असें मला वाटतें. मी असें ऐकतों कीं, हाच राजसूय पूर्वीं सोमानें केला होता, आणि त्याच्या शेवटीं तारेसंबंधें तुंबळ युद्ध झालें. वरुणानेही हा महाक्रतु केला. पण त्याच्याही शेवटीं सर्व भूतांस त्रासदायक असें देवासुरांचें महायुद्ध झालें. हरिश्चंद्र राजर्षीनें हा क्रतु केला, पण त्यांतही ‘ आडीबक ’ या नांवाचें क्षत्रियांचा नाश करणारें युद्ध झालें. पुढें आमचे परमपूज्य पणजे ( युधिष्ठिर ) यांनींही हा महाविकट अशिरूप राजसूय यज्ञ प्रख्यात भारतीय युद्ध जुंपण्यापूर्वीं केला होता. ( आणि हाच पुढील महायुद्धाला कारण होऊन त्यानें कौरवकुलक्षय झाला. ) ह्मणून ह्या कामीं माझा असा प्रश्न आहे कीं, लोक-क्षयकारक अशा महाभारती युद्धाला कारण होणारा हा राजसूय यज्ञ आपले समक्ष पांडवांनीं आरंभिला असतां कां निवारिला नाही ? ( आपणांस ठाऊक असलें पाहिजे कीं, ) या राजसूय यज्ञाचीं जीं कांहीं बरीचशीं अंगे आहेत तीं यथासांग करतां येणें मोठें अवघड जातें, आणि अशा प्रकारें त्याचे एखादे अंगांत किंचित् कांहीं लंगडें पडलें कीं, तोच यज्ञ ( विपरीत फलदायी होऊन ) निश्चयानें लोकांचे संहारास कारण होतो. आपणही आमच्या पूर्वजांचे पितामह आहां; आपण भूत व भविष्य जाणणारे, समर्थ आणि आमचे आदिकर्ते आहां. तेव्हां आमचे ते पूर्वज स्वतः

१ ह्या राजसूयांत वसिष्ठ व विश्वामित्र यांचा कलह झाला, पण असल्या रूपांत झुंज खेळणें दोघांचेही मुनि-त्वाला कमीपणा आणणारें असल्यामुळे वसिष्ठानां ‘ आडी ’ नामक जलचर पक्ष्याचें व विश्वामित्रांनो बकपक्ष्याचें रूप घेऊन युद्ध केलें. ह्या युद्धांत उभय मुनींचे पक्षपाती क्षत्रियही झुंजले.

बुद्धिमान् व त्यांतूनही आपणांसारखा त्यांना मार्गदर्शक, असें असतां ते योग्य मार्गापासून च्युत कसे झाले ? कारण, जे मनुष्य अनाथ आहेत किंवा ज्यांचा नायक वाईट आहे, असेच गैरमार्गाने जातात.

व्यास म्हणाले:—हे राजन्, तुझ्या पूर्व-पितामहांची बुद्धि कालवशात् फिरली. त्यांनी मला पुढे भविष्य कधी विचारिलें नाहीं व मीही कोणी न विचारितां सांगत नसतो. शिवाय भावी गोष्टीचा बदल करण्याचें सामर्थ्य माझे पहाण्यांत नाहीं. कारण, कालकृतगतीचा परिहार करतां येणें शक्य नसतें. तथापि तूं ( मला ) आतां विचारीत आहेस म्हणून यापुढें काय होईल तें मी सांगतो. पण बाबारे, काल इतका बलवान् आहे कीं, तूं पुढे भावीवृत्त ऐकूनही कांहीं करणार नाहींस. कालानें जी रेष ओढिली ती ओलांडून कोणालाही जातां येत नाहीं; व तुम्हीं कितीही उत्साह धरिला, कसाही उद्योग केला किंवा केवढेही पौरुष गाजविलें तरी कालकृत नियम तुमच्या ताब्यांत रहाणार नाहींत. क्षत्रियांना अश्वमेध यज्ञ श्रेष्ठ सांगितलेला आहे व यास्तव महत्वाकांक्षेमुळे इंद्र तुझ्या यज्ञाचा नाश करील. म्हणून, हे राजन् ! पुरुषप्रयत्नानें दैवाचा परिहार कोणत्याही प्रकारें करतां येणें शक्य असेल तर तूं तो यज्ञ करूं नकोस. होणाऱ्या अनर्थांत इंद्राचा, तुझ्या उपाध्यायवर्गाचा किंवा तुझ्या यजमानाचाही कांहीं अपराध नाहीं. तर या प्रस्तुत प्रसंगीं काल अनावर आहे. त्या परमसमर्थ कालाचा हा ठराव होऊन चुकला आहे कीं, युगांताचा काल प्राप्त झाला असतां अदृष्टानुरूप प्रजासृष्टि नाहींशी व्हावयाचीच. त्याचप्रमाणें ब्राह्मण यज्ञफलाचा विक्रय करतील. हे राजन्, सर्व चराचर त्रैलोक्य कालाधीन आहे, हें तूं समजून ठेव.

जनमेजय म्हणाला:—हे भगवन्, मी आरंभिलेला अश्वमेध मध्येच सोडून देण्याला मला निमित्त काय होईल, तें, आपणांस मजबद्दल अगत्य असेल, तर आपण कृपा करून मला ऐकवा. म्हणजे मी त्याचा परिहार करीन.

व्यास म्हणाले:—हे प्रभो ! ब्राह्मणाच्या कोपानें तें निमित्त उद्भवेल. यास्तव तूं ब्राह्मण-कोपाचा परिहार करण्याविषयीं यत्न कर. तुझे कल्याण होवो. हे परंतपा, तूं केलेला हा अश्वमेध यज्ञ पुनः कोणी क्षत्रिय पृथ्वी असेपर्यंत करणार नाहीं.

जनेमजय म्हणाला:—ब्राह्मणशापरूपी अग्नीच्या तेजानें अश्वमेधाच्या निवृत्तीस मी निमित्त होणार, हें ऐकून मला फार मोठें भय वाटत आहे. कारण, मजसारखा पुण्यवान् पुरुष अपयशांत गुरफटल्यावर पाशांत सांभडलेला पक्षी जसा आकाशांत संचरण्यास असमर्थ होतो, तसा उत्तम लोकास जाण्यास असमर्थ होईल. प्रभो ! ज्याप्रमाणें हा पुढें होणारा यज्ञाचा नाश आतांच आपण पाहिला आहे, त्याप्रमाणेंच या यज्ञाची पुनः या लोकीं आवृत्ति होणार असेल तर ती मला सांगून धीर द्या.

व्यास म्हणाले:—ह्या लोकांत ज्याचा प्रसार आटोपला आहे, असला हा यज्ञ ( ज्ञानरूपानें ) देव व ब्राह्मण यांचे ठिकाणीं राहिल. कारण, कोणतेंही तेज दुसऱ्या तेजानेंच लुप्त-प्राय झालें असतां तें त्या तेजांतच लपून असतें. काश्यपकुळांतील कोणी एक सेनानायक ब्राह्मण भुविवरांत असतां, ती भूमि कोणी खणल्याबरोबर बाहेर येऊन कलियुगांत अश्वमेध पुनः प्रवृत्त करील. त्या युगांत त्याच्याच कुळांत उत्पन्न झालेला दुसरा एक राजेंद्र प्रलय-काल जसा श्वेतग्रह नांवाच्या उत्पातास आणतो

त्याप्रमाणें राजसूययज्ञालाही आणील. तो ऋतु मनुष्यांच्या श्रद्धाबलानुरूप त्यांस फल देईल. व ऋषींनीं झांकून टाकिलेल्या युगांतद्वारांत तो प्रवेश करील. तेव्हांपासून मनुष्याचीं इंद्रियें पूर्वीचे आचार सोडून देतील, व या लोकीं नेहमीचे वर्तनांत त्यांचे पूर्वज वागत आले, तसे मनुष्य वागणार नाहीत. अशा समयी चातुर्वर्णाच्या आश्रममर्यादा ज्यांत शिथिल झाल्या आहेत व ज्यांत अनेक विघ्नें आल्यामुळे जो हातून तडीस जात नाही, असा अल्प-स्वल्प व दानमूलक धर्म लोकांत राहील; पण त्यापासून अल्पांतच बहुत फल प्राप्त होईल. अशा वेळीं थोड्याशाच तपानें मनुष्यांस सिद्धि प्राप्त होईल. हे जनमेजया, सारांश, या युगांतकालीं जे धर्माचरण करतील ते मानव धन्य होतील.

### अध्याय तिसरा.

—:—

#### व्यासोक्त कलियुगाचें भविष्य.

जनमेजय म्हणतो:—ज्याअर्थी मोक्षाचा समय जवळ आहे किंवा दूर आहे हें आह्मांस कळत नाही, त्या अर्थी धर्म व अधर्म यांची ज्यांत बरोबरी आहे अशा द्वापरयुगाला आपल्या अधर्माधिक्यानें दूषित करणारा जो कलियुगांतील शेवटचा—कलि, त्याचें वर्णन ऐकण्याची माझी फार इच्छा आहे. अल्पकर्मानें सुखकर परमधर्म प्राप्त होईल, या आशेनें तर आम्हीं कलियुगांत जन्माची इच्छा करून या वेळीं जन्मास आलों आहों.

शौनक म्हणाला:—हे धर्मज्ञा, त्रास व उद्वेग यांस उत्पन्न करणारे हें धर्मनष्ट असें अखेरचें युग प्राप्त झालें आहे. याकरितां तूं याचें वर्णन खाणाखुणांसह कर.

सौति म्हणाला:—हे शौनका, याप्रमाणें

जनमेजयानें प्रश्न केला असतां या अखेरचे युगांत प्राणिमात्राची अवस्था काय होणार याचा सारदृष्टीनें पूर्ण विचार करून भगवान् व्यासांनीं बोलण्यास प्रारंभ केला.

व्यास म्हणाले:—कलियुगांतील राजे केवळ स्वतःचे रक्षणाविषयीं तत्पर राहून प्रजेचें रक्षण न करितां तिजपासून करभाग तेवढा हरण करणारे असे होतील. कलियुगामध्ये क्षत्रिय नसलेले लोक राजे होतील. ब्राह्मण शूद्रांवर उपजीविका करूं लागतील, व शूद्र ब्राह्मणांच्या आचारानें वागतील. बा जनमेजया, या शेवटच्या युगांत वेदज्ञ ब्राह्मण हातीं बाण घेतील. (क्षात्रकर्म करतील.) यज्ञक्रिया विधिहीन होतील व सर्व जाति एके पंक्तीस भोजन करतील. हे जनमेजया, या कळीत मनुष्य शिल्पकुशल, असत्यप्रिय, मद्य व मांसाचे लालची व स्त्रीलाच मित्र मानणारे होतील. युगांतीं चोर हे राजांचें वेतन घेऊन राहतील किंवा राजांचे थारटें राहतील. राजे अपहार-बुद्धि स्वीकारतील व नोकर न दिलेल्या वस्तूंचा उपभोग घेणारे होतील. द्रव्यच काय ते श्लाघ्य वाटेल. साधूंचे आचरणाचा गौरव कोणी करणार नाही; व कोणी धर्मच्युत झाल्यास त्याला कोणी नांवें ठेवणार नाही, असा या अखेरचे युगांत प्रकार होईल. मनुष्यांतील जोम नाहीसा होईल ( किंवा धर्मा-

१ या ठिकाणीं व्यंकटेशाचा पाठ “मित्रभार्या भविष्यति” असा आहे. कलकत्ता—पाठ याहूनही मित्र “मित्रभार्या भजिष्यति” हा “स्नेहाचे स्त्रींवर प्रेम ठेवतील” अशा अर्थाचा आहे. या दोन्ही पाठांहून आमचे लेखी पोथीचा पाठ “भार्यामित्रा भविष्यति” म्ह० स्त्रीलाच मित्र मानणारे असा आहे, तोच आहों घेतला आहे.

१ या ठिकाणीं “राजवृत्तिस्थिताः” व “राजवृत्ते स्थिताः” असे दोन पोथ्यांचे दोन मित्र पाठ आढळतात. क्षेमेंद्राने “दस्यवो राजचरित्ता राजानो दस्युचेष्टिताः” अशा अर्थी धरली आहे, त्याअर्थी राजवृत्ते हाच पाठ बरा.



धर्मविवेक नाहीसा होईल.) कित्येक पुरुष शेंड्या मोकळ्या सोडतील, कित्येक मुळींच काढून टाकतील व सोळा वर्षांपूर्वीच प्रजोत्पादन करू लागतील. जनपद (खेडीपाडी) अन्नविक्रय करतील; ब्राह्मण वेदविक्रय करतील व तरुण स्त्रिया \* \* विक्रय करणाऱ्या या अखेरचे युगांत होतील. सर्वच तोंडांनं ब्रह्म बोलू लागतील (आचाराचे नावानं शून्य); सर्वच धाम्ये होतील; व शूद्रही “भो” हा शब्द परस्परसंबोधनांत वापरू लागतील. ब्राह्मण तप व यज्ञ यांच्या फलांचा विक्रय करू लागतील. वसंतादि ऋतूही बदलतील— (स्वधर्म सोडतील.) मांसाशन सोडिल्यामुळे ज्यांचे दांत शुभ्र आहेत व नेत्र सूक्ष्म झाले आहेत असे मुंडन केलेले, काषाय वस्त्रे धारण करणारे, आणि शाक्यमत व बुद्धमत यांवर

१ या श्लोकाचा चतुर्थरांनी “मुक्तकेशा” म्हणजे “विधवा” व “विचूलिनः” ह्याचा अर्थ “मुंडन केलेले सर्व संन्याशी” असा धरून विधवा व संन्याशी परस्पर मिळून प्रजोत्पादन करतील, असा केला आहे. पण इतका द्राढ अर्थ थंडीत बसण्याचें कारण आह्मांस दिसत नाही. शिवाय क्षेमेत्रानं या ओळीचा अर्थ “केशवेशा भविष्यन्ति निरुष्णीशांवरानराः । म्ह० डोकीचीं पागोटीं टाकून देऊन आजकालसारखे केशांचेच टोप ठेवू लागतील” असा स्पष्ट दिला आहे. हाही आमचे म्हणण्यास पुष्टि देतो.

२ या ठिकाणी “चतुष्पथ” याचा अर्थ “ब्राह्मण” न करितां वार्हिकरांनी “चव्हाय” असा नेहमीप्रमाणे केला आहे. परंतु तो आम्हांस मान्य नाही. प्रसिद्ध भारतमंजरीकार “क्षेमेत्र” यानेंही या ठिकाणी “वेदविक्रयिणो द्विजाः” असाच अर्थ केला आहे.

३ वास्तविक हा शब्द वापरण्याचा अधिकार ब्राह्मणाला आहे. भगवान् मनु आपल्या सिंहितें म्हणतातः— “भोः शब्दं कीर्तयेदंते स्वस्य नाम्नोऽभिवादाने ॥” मनु० अ. २ श्लो० १२४.

४ ज्यांनी “ओरायन” हा ग्रंथ वाचिला असेल, त्यांस त्याचा दुसराही अर्थ कळेलच.

५ मुळांत “अजित” असा शब्द आहे. त्याचा अर्थ “सुरमा घातलेले” असा होतो. “सूक्ष्म” हा अर्थ चतुर्थरांनी केला आहे.

उपजीविका करणारे शूद्र धर्माचरण करू लागतील. हिंस्र प्राण्यांची वृद्धि व गाईंचा संहार होईल; व हें युग संपलें असतां गोड रसामध्ये बदल होईल, असें जाण. अन्य जन मध्यम स्थितीला येतील व मध्यम प्रतीचे लोक अन्त्य अवस्थेस पोचतील. सर्व प्रजा नीचमार्गी होतील. हें युग क्षीण झालें असतां दोन वर्षांचे पाडे (खोंड) नांगर, गाडा इत्यादि वाहण्यास योग्य होतील. त्याचप्रमाणें ते मत्त होऊन तळीं व नद्या यांचे कांठ (मस्तहोऊन) शिंगांनीं उकरू लागतील; आणि पर्जन्य चमत्कारिक रीतीनें वर्षाव करू लागेल. जातभामटेच एकमेकांस लुटतील. थोड्याशा संपत्तीनें लोक संपन्न होतील. पण स्वल्पशा संकटांनीं भिकारीही बनतील. मनुष्य धर्मपराङ्मुख होतील, व शेतजमिनी क्षारप्रचुर होऊन स्वेदयुक्त झाल्यानें नापीक होतील, व मार्ग चोरट्यांनीं आडविलेले राहतील. या कलियुगांत सर्वच वर्ण वाणधंदा करतील. बापांनं कोणाला जातदेणगी म्हणून कांहीं मिळकत दिली असल्यास तिचेही वांटे मागतील. लोभ व असत्यप्रीति, यामुळे परस्परांचे उरावर बसून एकमेकांचें द्रव्य हरण करू पाहतील. कलियुगांत खरें सौकुमार्य, रूप व रत्नें हीं नाहीतशीं झाल्यामुळे स्त्रिया आपल्या केशांनींच अलंकृत होतील. पुष्पमाला, चंदन, दिव्य शय्या इत्यादि भोगसामग्री नाहीशी झाल्याकारणानें भूताप्रमाणें दिसणाऱ्या गृहस्थाला स्वभार्येवाचून अन्य भोग्य कांहीं राहणार नाही. या कलियुगाचें आणखी लक्षण असें आहे कीं, त्या दुर्वर्तनी व नीच अशा लोकांचा सुळसुळाट माजे. पुरुषांची संख्या कमी व त्या प्रमाणानें स्त्रियांची संख्या अधिक राहिल, व रूप असून व्यर्थ होईल. सर्व लोक

१ चालू सत्तेखालीं तरी हें भविष्य लंगडें पडलें आहे.

पुष्कळ याचना करणारे होतील. पण एक-मेकांस कांहीं देणार नाहीत; आणि कांहीं विचार न करितां अन्य वर्णांच्या लोकांपासून दान घेतील. राजा, चोर, अग्नि व दंड यांच्या योगानें पीडित होऊन प्रजा क्षय पावेल. शेती निष्फळ होईल. तरुण वृद्धांचें आचरण करतील; व लोक द्रव्यतृष्णेनें असुखी होतील. वर्षाकाळीं रूक्ष व अधोगामी वारे वाहतील; व आपले वाहणीबरोबर बारीक वाळूचे कणांचा वर्षाव करतील; आणि या युगांत, पर-लोकप्राप्तीविषयीं लोक संशयित राहतील. ब्राह्मणांस राग झटकन् येईल; व ते स्वतः दुराचारी व वेददूषक होऊनही आपणांस श्रेष्ठ समजतील. क्षत्रिय वैश्यांचा आचार करूं लागतील. ते धनधान्यावर उपजीविका करतील. सारांश, धर्ममर्यादेचा अतिक्रम करण्यास सर्व द्विजांची प्रवृत्ति होईल. करार व शपथा पाळल्या जाणार नाहीत; व विनयान्वित म्हणजे सुशिक्षित लोकही कर्ज बुडवितील. मनुष्याचा हर्ष निष्फल व क्रोध मात्र सफल होईल. त्या युगांत दुधाकरितां बकच्या पाळतील. शाखांस न जाणणाऱ्या पुरुषांची या कलियुगांत स्वाभाविकच अशी प्रवृत्ति होईल कीं, ते स्वतःसच पंडित समजून (शाखाधार-विरहितच) नीतीचीं तत्त्वे सांगत सुटतील. शाखांत खरें काय सांगितलें आहे तें कोणीच सांगणार नाही; आणि वृद्धांची परिचर्या केल्यावांचूनच सर्वांस सर्व कांहीं समजे. (समजतें असें वाटे. ) हा युगान्तसमय प्राप्त झाला असतां सर्वच कवि व सर्वच ग्रंथकार होतील. ब्राह्मण स्वतःच भलतेंच कर्म करूं लागून क्षत्रियांना स्वकर्माचे ठायीं प्रवृत्त करीनासे होतील, व चोरलोक राजांचे आवडते

होतील. बा जनमेजया, कलि लागला म्हणजे कुंडावृष (पति जिवंत असतांना जारापासून झालेल्या कन्येच्या ठायीं वीर्यसिंचन करणारे), नैकृतिक (अधिकार नसतांना यज्ञादि करणारे), सुरापान करणारे, मिथ्या वेदाभिमानी होणारे ब्राह्मण अश्वमेध यज्ञ करतील. धन-लोभानें व्याकुल झालेले ब्राह्मण, कलीच्या प्रभावानें जे अयाज्य आहेत त्यांच्याकडून यजन करवितील; व स्वतः मांसादि अभक्ष्य पदार्थांचें भक्षण करतील. वेदांचें एक अक्षरही कोणी पढणार नाही, आणि “ भो ” असें बहुमानार्थी संबोधन मात्र वाटे. ते उपयो-गांत आणतील; आणि स्त्रिया एकएकच चुंडा भरतील व दाण्यांच्या आकाराचे पोतमणी गळ्यांत घालतील. नक्षत्रें निस्तेज होतील; दिशा अप्रसन्न होतील; त्या हीन युगांत संध्याकाळ खुलणार नाही, व दिशांचा दाह होऊं लागेल. पुत्र आईबापांस कामास लावतील; मुना सास्वांस काम सांगतील; आणि पुरुष भिन्न जातीचे स्त्रियांशीं समागम करतील. त्याचप्रमाणें शिष्य गुरूंना वाक्शरांनीं पीडितील. अति उन्मत्त होऊन मुखामध्यें मैथुनादि प्रयोग करतील. ज्यांतील चतुर्प्रासप्रमाण प्रथम अग्नीस समर्पण केलें नाही, असें अन्न अग्निहोत्री भक्षण करतील. अतिथींस भिक्षा व चांडाल-वायसांदिकांस बलि समर्पण न करितां पुरुष स्वतः जेवतील. निजलेल्या पतींस फसवून स्त्रिया अन्यत्र जातील, व पुरुषही भार्या निजल्या कीं परस्त्रीगमन करतील. या युगांतसमयीं व्याधिरहित किंवा निरोगी असा कोणीही आढळणार नाही; व जो तो दुस-

१ हें भविष्य सांगणाराला लबाड कोण झणेल ?

२ अन्नसंस्कार न करितां अन्न खाणें निषिद्ध आहे.

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुंजेत ते त्वधं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् । भगवद्गीता अ० ३ श्लो० १३

१ चाळिशीतच वार्धक्याचीं चिन्हें आजच दिसूं लागलीं आहेत.

व्यास नावें ठेवण्यांत पटाईत होऊन स्वतःचे गैरवर्तनाचा प्रतिकार कधीच करणार नाही.

## आध्याय चौथा.

—:—

### कलियुगवर्णन चालू.

जनमेजय विचारतो:—याप्रमाणें लोकांत सर्वत्र बेबंदी माजली असतां लोकांचा आचार कसा राहील व आहारविहार तरी कशा-प्रकारचे होतील आणि अशा स्थितींत लोकांचें पालन तरी कोणाचे हातून होईल? लोक कोणतीं कर्मे करतील, कसल्या इच्छा करतील, त्यांचे शरीराचें व आयुष्याचें प्रमाण काय असेल व कोणत्या पल्ल्याला गोष्टी पोंचल्या म्हणजे त्यांस पुनरपि कृतयुगाची प्राप्ति होईल?

व्यास सांगतात:—इतउत्तर धर्म हा गालित झाल्याकारणानें प्रजा गुणहीन होऊन शीलभ्रंश पावतील व शीलभ्रष्ट झाल्यामुळें अर्थातच प्रजांचे आयुष्याचा न्हास होईल. आयुष्य क्षीण झालें कीं, बलाला कमीपणा येईल; बलाच्या हीनतेनें निस्तेजता वाढेल; निस्तेजतेमुळें व्याधीची पीडा वाढेल; आणि व्याधिपीडेमुळें देहादिकांविषयीं वैराग्य येईल. वैराग्यामुळें आत्म्याचें स्वरूप कळेल; आत्म-ज्ञानामुळें धर्मशीलता बाणेल, आणि याप्रमाणें मोक्षद ज्ञान मिलून पुनः कृतयुग प्राप्त होईल. कलियुगांत कित्येक अल्पस्वरूप धर्मशील राहतील; कित्येक मध्यस्थ ( तटस्थ ) राहतील; कांहीं जे चौकस किंवा विचारी प्रवृत्तीचे असतील ते केवळ धर्मसंबंधी भवति न भवति करण्यांतच आनंद मानतील; पण क्रिया करणार नाहीत. त्यांतील वैशेषिक व बौद्ध, प्रत्यक्ष व अनुमान, अशीं दोनच प्रमाणें मानतील. कित्येक पंडितमन्य चार्वाक प्रत्यक्ष हेंच एक प्रमाण आहे, दुसरें कोणतेंही नाही,

असें समजतील. दुसरे कित्येक लोक वेदोक्त सिद्धांतासही अप्रमाण करतील. ( अशी दुरवस्था प्राप्त होईल. ) स्त्रिया नीचवृत्ति होऊन, मुख हेंच ज्यांचें भग आहे, अशा होतील; त्याप्रमाणें कित्येक पंडितमन्य, मंद, मूढ नर नास्तिक्यांतच धन्यता मानून धर्मलोप करणारे निपजतील. शास्त्रीय ज्ञानाचें त्यांचें वांकडें असल्यानें केवळ सद्यःप्रत्ययकारक गोष्टींवर मात्र विश्वास ठेवतील; आणि केवळ भांडखोर-पणांतच कौतुक मानणारे असले दांभिक होतील. पण अशा रीतीनें वैदिक धर्म ढांसळ-लेला असतांही अवशिष्ट राहिलेल्या ईशस्म-रणादि धर्माचा पुरस्कार करून कांहीं उत्तम-जन दान व सत्य यांनीं युक्त होत्साते दया, परोपकार इत्यादि शुभ कर्मांचेंच अनुष्ठान करतील. तथापि त्या घोर कलियुगांत प्रायः सर्व लोक सर्वभक्षक, अजितेंद्रिय, गुणहीन व निर्लज्ज होतील. खरोखर हें कलुषितपणाचें लक्षण आहे. ज्या वेळीं नीच वर्णाचे लोक निर्वाहार्थ ब्राह्मणांची शाश्वतची जी भिक्षावृत्ति ती स्वीकारतील, त्या वेळीं तें कलमलाचें चिन्ह समजावें. याप्रमाणें सर्व लोक मलिन होऊन शास्त्रीय बोध व आत्मविद्या यांचे नाशाविषयीं प्रवृत्त झाला असतां, जे कोणी केवळ अपरि-ग्रह वृत्तीनें राहतील अशांस तेवढ्या त्यागानेंच सिद्धि मिळेल. ( हा कलीचा प्रभाव. ) युग क्षीण झालें असतां महायुद्ध, मोठा कोलाहल, महावृष्टि व महाभय होईल. तेंच कलिपरिपा-काचें लक्षण समजावें. त्या युगांत राक्षस विप्ररूपानें उत्पन्न होतील. राजे चहाड्या ऐकण्यांत तत्पर होऊन पृथ्वीचा उपभोग घेतील. ब्राह्मण स्वाध्याय-वषट्काररहित मोठे अभिमानी, त्यामुळेंच कोणाचें हितवचन ऐकणारे, सर्वभक्षक, व वृथा व्रतें करणां असे राक्षसरूपानें निपजतील. ते मूर्ख, स्वार्थ



परायण, लुब्ध, क्षुद्र परिवारानें युक्त, भोजन-आच्छादनादिकांतच तत्पर व आपल्या शाश्वत धर्मापासून च्युत झालेले, असे उद्ववतील. दुसऱ्यांचीं रत्नें व स्त्रिया यांचा अपहार करणारे, विषयलंपट, दुरात्मे, कपटी, व ज्यांना साहस प्रिय आहे, असे निर्माण होतील. या एकाच स्वभावाचे लोकांचा सर्वत्र पगडा बसला म्हणजे चारी आश्रमांचे बहुविध आचार यथाविधि करणारे असे विचारशील लोक नष्टप्राय होतील. त्यांतूनही जे थोडेसे परमेश्वराचे भक्त निपजतील ते कृतयुगांत उत्पन्न झालेल्या पुण्यवान् पुरुषांचें कीर्तन करूनच त्या सर्वांचें पूजन करतील. ( आचरणानें नव्हे. ) लोक धान्याची चोरी करतील; वस्त्राचा अपहार करतील; भक्ष्य व भोज्य यांचा अपहार करतील; धान्य सांठविण्याचीं—पाट्या, हारे इत्यादि—भांडीं पळवतील; चोर चोरांना लुटतील; लुटारू दुसऱ्या लुटारूंनाच लुटतील, आणि अशा रीतीने चोरांनीं चोरांचा नाश केला म्हणजे लोकांस सुख होईल. सर्व मनुष्यवर्ग निर्धन झाल्यामुळे अस्वस्थ व क्रियाहीन होऊन व वर्णावर्णामधील अंतर लोपून सर्व एकाच पंक्तीला येऊन बसले असतां, करभारानें त्रासून रानावनांत जाईल. “ पुत्र पितरांस सर्व प्रकारचें काम करण्यास लावतील, व युगांतसमय येऊन ठेपला असतां सुना सास्वांना आज्ञा करतील. शिष्य गुरूंना बाग्वाणांनीं टोंचतील. ” यज्ञकर्म बंद पडलीं म्हणजे राक्षस, श्वापदे, वृश्चिकादि किडे, उंदीर व सर्प मनुष्यांशीं धिटाई करतील. बा नरश्रेष्ठा ! युगक्षयप्रसंगीं क्षेम, सुभिक्ष, आरोग्य व बंधूंचें समग्रत्व कचित्च आढळेल. निरनिराळ्या देशांत पृथक्-

पृथक् लोक स्वतःच पालक व स्वतःच चोर होऊन युद्धसामुग्री जमवून सैन्यांसह प्रत्येक राष्ट्रांतून हिंडतील. त्या वेळीं सर्वतः कालाचा क्षय झाल्यामुळे स्वदेशांतून सर्वशः भ्रष्ट झालेले सर्व मानव आपल्या आपल्या आसांसह निःसार ( निर्बल ) होतील. त्यावेळीं लहान बाळकांना खांद्यावर घेऊन भयानें जीव घेऊन पळणारे व क्षुद्र व्याधीनें पीडलेले नर कौशिकी नदी-चैही तीर उल्लंघन करतील. अंग, वंग, कलिंग, काश्मीर व मेकल हे देश आणि ऋषिकांत पर्तताच्या दऱ्या, यांचा आश्रय मानव करतील, किंवा आर्यावर्तातील जन हिमालयाचा सर्व पार्श्वभाग, क्षारसागराचें सर्व तीर व अरण्ये, यांत म्लेंच्छगणांसह राहतील. येणेंप्रमाणें पृथ्वी शून्यही नाही व अशून्यही नाही, अशी होईल. शस्त्रवान् लोक तिचे रक्षक व अरक्षकही होतील. पशु, मासे, पक्षी, श्वापदे, सर्प, किडे, मध, भाज्या, फळे व मुळे यांवर मनुष्ये निर्वाह करतील. जसे मुनी त्याप्रमाणेंच तेही ( दरिद्र्यामुळे ) फाटक्या चिंध्या, झाडांचे टहाळे, साली, चामडी यांना स्वतःच तयार करून नेसतील. पर्वतांच्या दऱ्याखोऱ्यांतून राहून ग्राम्य व आरण्य धान्याचें स्वरूप जाणण्याची व त्यांस खाण्याची इच्छा करणारे ते लांकडी मेखांनीं भूमीला उकरूं लागतील. धान्य इत-स्ततः नेण्याकरितां बकरे व मेंढे यांचे समूह पाळतील. गांधार, काश्मीर इत्यादि प्रत्यंत देशांत राहणारे लोक उंट व गाढवेही मोठ्या यत्नानें पाळतील. नदीतीरींच वसाहती करून लोक जलाकरितां नद्यांचा प्रवाह अडवितील. शिजलेलें अन्न आज एक शेर देऊन उद्यां

१ गताध्यायीं हेंच भविष्य येऊन गेलें आहे. विस्मृति हा पुरुषधर्म आहे. दुसरे काय म्हणावें ?

१ ही एक हिमालयांतून निघालेली नदी आहे.  
२ लोखंड दुर्मिळ होणार, असें दिसतें, अर्थात् हा काळ बहुत दूर आहे, हें ठीक आहे.  
३ पर्जन्याच्या टंचाईचें चिन्ह समजावें.

सत्वाशेर घेणें इत्यादि प्रकारें ते परस्पर पक्का-  
त्रांचा व्यापार करतील. मूलधनासह वृद्धीचा  
( व्याजाचा ) अपहार होत आहे, असें  
पाहून ते एकमेकांशीं, ऐकणाराच्या अंगावर  
कांटा उभा राहील अशा रीतीनें, कलह कर-  
तील. सारांश, ज्यांना पुष्कळ अपत्ये आहेत  
अथवा एकही वंशांकुर नाही, असे ते सर्व  
कुललक्षणशून्य निपजतील. कालाच्या अधीन  
असलेले मानव त्या वेळीं असे होतील. त्या वेळीं  
प्रजा हीनाहून हीन अशा धर्माचें अनुष्ठान  
करतील. त्या घोर समयीं “तीस वर्षे” हें मनु-  
ष्याचें सर्वांत अधिक आयुर्मान होईल. लोक  
दुर्बल, विषयपराधीन व रजोगुणानें भरलेले असे  
होतील. त्या वेळीं रोगांनीं त्यांचा इंद्रियक्षय  
होईल. आयुष्य अतिक्षीण झालें आहे, असें  
कळल्यामुळें मोठा विषाद उत्पन्न होईल.  
त्यामुळें विवेकी जन साधूंची शुश्रूषा व दर्शन  
यांमध्ये रत होतील. व्यवहाराचा बहुधा क्षय  
झाला आहे, असें पाहून सत्याचा अंगीकार  
करतील. इष्ट मनोरथांचा लाभ न झाल्या-  
कारणानें लोक धर्मशील होतील. आपल्या  
पक्षाच्या क्षयानें पीडिलेले ते दुराचाराचा  
संकोच करतील. याप्रमाणें शुश्रूषा, दान, सत्य,  
व प्राणरक्षण या चार पादांनीं ( पुनः )  
संपन्न झालेला धर्म लोकांचें कल्याण करील.

नंतर ज्यांचें कल्याण झालें आहे, व त्यामुळें  
धर्माचरणानें कल्याण होतें व अधर्माचरणानें  
अकल्याण होतें असें अनुमानानें ज्यांस कळलें  
आहे, असे धर्माधर्मफलामध्ये निमग्न झालेले  
लोक धर्मांमध्ये सुखावह काय आहे ह्याचा  
विचार करून व तत्त्व जाणून असें बोल-  
तील: जशी क्रमानें हानि झाली तशीच वृद्धिही  
झाली. यास्तव धर्माचा स्वीकार केला असतां

कृतयुग प्राप्त होईल. कृतयुगांत सदाचरण असतें  
व कलिमलसमयीं त्याची हानि होते. एकच  
काल चंद्राप्रमाणें प्रसंगीं हीनवर्ण होतो.  
जसा चंद्र तमोरूप राहूकडून आच्छादित  
केला जातो, त्याप्रमाणें काल कलियुगांत कलि-  
मलानें आवृत्त होतो आणि राहूरहित चंद्र  
जसा परिपूर्ण दिसतो त्याप्रमाणें काल ( व  
धर्म ) कृतयुगांत परिपूर्ण होतो. परब्रह्म हा  
सत्यार्थवाद आहे. त्यालाच वेदार्थ असें समज-  
तात. वरून मलिन दिसणारा वडिलार्जित  
सोन्याचा गोळा, हा सोन्याचा आहे, असें न  
जाणणारा पुरुष मी दरिद्री आहे असें समजतो.  
पण तोच त्यावरील मल गेला कीं, मी आतां  
धनवान् झालों आहे असें समजतो. त्याचप्रमाणें  
शास्त्रार्थविचारानें ब्रह्म प्रत्यगभिन्न आहे  
असें ज्ञान होतें व त्यानंतर गी संसारी, सुखी,  
दुःखी इत्यादि आहेत, हा भ्रम जातो. वर्णा-  
श्रमयोग्य तपोधर्म हा इष्टवाद आहे. ( स्वर्गादि  
इष्टकथन आहे. ) कारण, तप हें अनादि  
व अव्यभिचारी फल देणारें आहे, असा  
शास्त्रांत निश्चय आहे. देहादि गुणांच्या योगानें  
कर्मनिष्पत्ति होते व कर्म आणि सत्य  
ह्यांच्या योगानें देहादि गुण उद्भवतात. ( म्ह-  
णजे कर्मानें मुक्ति नाही. ) पुरुषांच्या श्रद्धादि  
न्यूनाधिक भावाप्रमाणें देशकालानुरूप एकच  
कर्मापासून भिन्न फलप्राप्ति होते. अर्थात् कर्म-  
फल प्रतियुगीं कालानुरूप मिळणारें आहे,  
असे ऋषींनीं सांगून ठेविलें आहे. या लोकीं  
धर्म-अर्थ-कामांच्या व देवतांच्या प्रतिक्रिया,  
त्याचप्रमाणें शुभ व पुण्यकारक फलप्राप्ति प्रति-  
युगीं न्यूनाधिक प्रमाणानें होतात. ज्या अर्थी  
युगांची परिवर्तनें विधिस्वभावामुळें अनादि  
कालापासून प्रवृत्त झाली आहेत, त्या अर्थी हा  
जीवलोक क्षय व उदय यांच्या योगानें बदल-  
ल्यावांचून एक क्षणभरही रहात नाही.

## अध्याय पांचवा.

—:०:—

जनमेजयाचा अश्वमेध व इंद्राचें कपट.

सूत म्हणतात:—या प्रकारें राजा जनमेजयाला आश्वासन देणाऱ्या त्या ऋषींचें तें भूत व भावि गोष्टींसंबंधी वाक्य सभेंतील सर्व लोकांनीं ऐकिलें. त्या महर्षींचा तो वाङ्मय-रस चंद्राची प्रभा किंवा अमृताचा प्रवाह या-प्रमाणें सभासदांच्या कर्णीस तृप्त करिता झाला. धर्म, अर्थ व काम या पुरुषार्थींनीं व करुण-रसांनीं युक्त, वीरांस हर्ष देणारें आणि रमणीय असें तें सर्व आख्यान ( भारत ) सभासदांनीं ऐकिलें. तें ऐकून कित्येकांनीं अश्रु ढाळिले, व दुसरे कित्येक ध्यानस्थ बसले. कारण, त्या ऋषींनीं तो इतिहास जणूं काय हातावर ठेविल्याप्रमाणें त्यांपुढें उभा केला. नंतर सभासदांची अनुज्ञा घेऊन व त्यांस प्रदक्षिणा करून आणि ' पुनः तुमचें दर्शन घेऊं ' असें बोलून तो भगवान् महर्षि निघाला. तो जाऊं लागला असतां या लोकांतील सर्व वक्त्यांत श्रेष्ठ अशा त्या ऋषिसत्तमाचे मागो-माग त्या सभेंत जे विशेष तपोनिष्ठ होते ते जाऊं लागले. मग त्या ब्रह्मर्षींसह भगवान् व्यास मार्गास लागले असतां ऋत्विज व राजे परत आले.

या प्रकारें त्या घोर सर्पाचा सूड उगवून झाल्यावर तो राजा सर्प ज्याप्रमाणें विष ओकून टाकून मोकळा होतो, त्याप्रमाणें क्रोध सोडून देऊन परतला. अग्निहोत्रांतील अग्नीचे योगानें तक्षकसर्पाचें टकलें तापूं लागून तो जळून खाक होण्याचे बेतांत होता. परंतु आस्तिकमुनींनीं त्याचा बचाव केला, व नंतर ते आपल्या आश्रमास परतले. राजाही आपल्या परिजनांसह हस्तिनापुरास गेला. व स्वतः आनंदित होऊन आपल्या आनंदित झालेल्या

प्रजेचें पालन करूं लागला. नंतर कांहीं कालानें त्या राजा जनमेजयानें यथाशास्त्र पुष्कळ दक्षिणा देऊन अश्वमेध यज्ञाची दीक्षा घेतली. त्या यज्ञांत त्याची महाराणी काशिराजकन्या वपुष्टमा मारलेल्या घोड्यापाशीं शास्त्रोक्त विधीनें जाऊन बसली. पण त्या वेळीं त्या सर्वांगसुंदरीला पाहून इंद्र सकाम झाला; व त्या मृत अश्व्याच्या देहांत प्रवेश करून तिजशी संगत झाला. तेव्हां त्या अश्वचे ठिकाणीं उत्पन्न झालेला विकार जनमेजयाचे ध्यानांत येतांच तो अध्वर्यूला टाकून बोलला कीं, हा अश्व अजून मेला नाही. ( याला कारण तुझी हयगय आहे. ) याकरितां याऐवजीं तूंच मर. त्या वेळीं त्या ज्ञानसंपन्न अध्वर्यूनें तें इंद्राचें कपटाचरण राजर्षीस सांगितलें. तेव्हां त्यानें इंद्राला शाप दिला.

जनमेजय ह्मणतो:—मी प्रजेचें ( न्यायानें ) रक्षण करीत असून शिवाय जर कांहीं तप किंवा यज्ञफल संपादिलें असेल तर तें सर्व फल खर्ची घालून मी पुढील वाक्य सांगितों तें ऐका:—  
“ आजपासून कोणीही क्षत्रिय या अश्वमेध यज्ञानें अजितेंद्रिय व चंचल अशा देवेंद्रास पूजणार नाहीत. ”—नंतर, हे शौनका, तो राजा जनमेजय रागावून ऋत्विजांस म्हणाला:—  
“ या यज्ञाचा इंद्रानें अशा रीतीनें उपमर्द केला, याला कारण तुमचें दौर्बल्य आहे. यास्तव तुम्हीं माझ्या देशांत राहूं नका. आपल्या आपजनांसह येथून निघून जा. ”

याप्रमाणें राजानें बजाविल्यामुळें रागावलेले विप्र त्या राजास सोडून गेले. नंतर तो परम धर्मज्ञ जनमेजय पत्नीच्या गृहामध्ये असलेल्या स्त्रियांना क्रोधाचे सपाट्यांत आज्ञा करिता झाला कीं, “ या असाध्वी वपुष्टमेला माझ्या घरांतून काढून द्या. कारण, हिनें माझ्या मस्तकावर धुळीनें भरलेले पाय ठेविले

आहेत. ( माझे यश मलिन केलें आहे. ) हिनें माझे सर्व महात्म्य नाहीसें केलें. यश व मान यांस दूषित केलें. चुरडून टाकिलेल्या पुष्पमाळे-प्रमाणें ही भला दृष्टीस नकोशी झाली आहे. दूषित करून सोडलेल्या आपल्या प्रिय भार्ये-सहवर्तमान जो या लोकीं राहतो त्याला अन्न गोड लागत नाही, व तो एकांतांत सुखानें निजूं शकत नाही. ”

याप्रमाणें क्रुद्ध होऊन पारीक्षित राजा भोठ्याने भाषण करीत असतां त्याला गंधर्व-राज विश्वावसु म्हणाला:—“तीनशें यज्ञ करणारा तूं इंद्राला सहन होत नाहीस. त्यानेंच ही वपुष्टमा अप्सरा तुझी पत्नी केली. रंभा नांवाची अप्सराच ही काशिराजाची कन्या व तुझी साध्वी राणी झाली आहे. हे राजन्, ही श्रेष्ठ स्त्री आहे. ही केवळ रत्न आहे. हिचा तूं अनुभव घे. तुझ्या यज्ञामध्ये न्यूनतारूपी छिद्र आढळतांच इंद्रानें विघ्न केलें, तथापि हे कुरुकुलश्रेष्ठा, तूं यथाशास्त्र यज्ञ केला आहेस. हे राजन्, तुझ्या यज्ञफलांच्या योगानें आपला पराभव होईल कीं काय, म्हणून इंद्र भीत असतो. हे विभो, त्यामुळेच त्यानें तुझ्या यज्ञांत असें विघ्न आणिलें. विघ्न करण्यास्तवच देवेंद्रानें या कपटाचा उपयोग केला. यज्ञीय अश्व मारला आहे, हेंच यज्ञांतील छिद्र साधून तूं जिला वपुष्टमा समजत आहेस त्या रंभेशीं त्यानें संयोग केला; आणि तें पाहून तुझे तीनशें यज्ञ करणाऱ्या ब्राह्मणांस तूं शाप दिल्यास ! त्यामुळे तूं व ब्राह्मण असे दोघेही इंद्रतुल्य बलापासून अंश पावलां आहां. कारण, तीनशें यज्ञ करविणारे ते ऋत्विज तुझ्याहूनही अतिशय असह्य होते. तुझ्याहूनही त्या ब्राह्मणांचें इंद्राला फार भय वाटत होतें. पण त्यानें एकाच कपटप्रयोगानें त्या दोन्ही भयकारणांचें उलंघन केलें आहे. असें जर नसतें तर तो

महातेजस्वी व विजयेच्छु इंद्र, दुसऱ्या कोणीही कधीं न केलेलें असें हें नातवाच्या ( निपणतु ) स्त्रीचें अतिक्रमण कसें करता ? गरुडामध्ये ज्या प्रकारची श्रेष्ठबुद्धि, श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ दम, व परम ऐश्वर्य सांगितलेलें आहे, त्या प्रकारचें तें सर्व तीनशें यज्ञ करणारा जो तूं अजिंक्य त्या तुझ्याठायीं आहे. यास्तव, बा राजा, इंद्र, गुरु, स्वतः तूं व ही वपुष्टमा यांतील कोणालाही दोष देऊं नकोस. कारण, काल सर्वथा दुर्लभ आहे. यज्ञांत मारिलेल्या अश्वान्त आपल्या दैवी शक्तीचे प्रभावानें प्रविष्ट होऊन देवेंद्रानें तुला रागास आणिलें. पण तुला जर सुखाची इच्छा असेल तर देवाचे कलानेंच वागणें योग्य आहे. जलप्रवाहाच्या उलट दिशेस जाणें कठीण, त्याप्रमाणें समर्थ पुरुषांच्या उलट आचरण करणें दुस्तर होय. यास्तव, आतां तूं क्रोध सोडून या निष्पाप स्त्रीरत्नाचा उपभोग घे. निष्पाप स्त्रियांचा त्याग केल्यास सर्व स्त्रिया तुझा त्याग करतील. राजन्, स्त्रिया सदां दोषरहित असतात. त्यांतून दिव्य स्त्रिया तर विशेषकरून दूषित होत नाहीत. सूर्याची प्रभा, अग्नीची ज्वाला, वेदी, त्याचप्रमाणें होमांतील आहुति, या जशा दूषित झाल्या तरी अदूषितच असतात त्याप्रमाणें स्त्रियाही कधीं दूषित होत नाहीत. शहाण्यांनीं त्यांचें सदां ग्रहण, लालन व पूजन करावें हेंच उचित होय. लक्ष्मीप्रमाणेंच शील-संपन्न स्त्रिया नमस्कार करण्यास योग्य व पूज्य असतात. ”

अध्याय सहावा.

—:—

भारताचें फल.

सौति सांगतो:—याप्रमाणें विश्वावसूनें सांत्वन केलें असतां निष्कारण दूषित झालेला

राजा जनमेजय प्रसन्न होऊन मनुष्यधर्मास उचित अशा प्रकारें त्यानें वपुष्टमेची शांति केली; आणि मग सर्व मानसिक क्लेश एकीकडे सारून स्वतःचें यश वाढविण्याचे नादांत तो गुंतला व प्रसन्न चित्तानें वपुष्टमेला रममाण करून तो धर्मबुद्धि स्वदेशाचें राज्य करूं लागला. तो विप्रांचें पूजन सोडून कधीं विरत झाला नाही. यज्ञ व दान या शीलापासून निवृत्त झाला नाही. देशाच्या पूर्ण रक्षणापासून तो कधीं च्युत झाला नाही व त्या दिवसापासून त्यानें वपुष्टमेची निंदाही केली नाही. ज्यांचे तप अचिन्त्य आहे, अशा ( व्यास ) मुनींनीं पूर्वीं जें सांगितलें होतें, तें विधिविहित बदलतां येणें शक्य नाही, असा मागून पुष्कळ विचार करून तो आत्मज्ञ राजा क्रोधरहित झाला.

महात्म्या व्यासर्षींचें हें महाभारत नांवाचें काव्य जो पढतो तो नर सर्व मानवांत अतिशय पूज्य होतो. दुर्लभ असलेलेंही उत्कृष्ट दीर्घ आयुष्यही त्याला प्राप्त होतें, व केवळ सर्वज्ञत्वाचें फल मिळतें. इंद्राचें हें पापापासून पूर्ण मुक्त होणें जो नर पढतो, तो सर्व पापांतून मुक्त होतो. त्याचप्रमाणें तो नाना प्रकारचे विषयभोग भोगतो; आणि सर्व मनोरथ पूर्ण होऊन तो दीर्घकाल आनंद भोगतो. ज्याप्रमाणें पुष्पापासून उत्पन्न होणाऱ्या फलाला वृक्ष वाढवितात व त्या फलापासून दुसरे वृक्ष वाढतात ( होतात ) त्याप्रमाणें महर्षि-व्यासापासून उद्भवलेल्या या वाणी पठणपाठणाच्या योगानें स्वतः अतिशय वृद्धि पावून, त्या ऋषीला वाढवितात. ह्याच्या पठणानें जो पुत्रहीन असतो त्याला पुत्र होतात. वर्चस्वापासून

च्युत झालेला पुरुष पुनः आपल्या पूर्वस्थितीस प्राप्त होतो; त्याला व्याधि व बंधन यांचा दीर्घकाल अनुभव घ्यावा लागत नाही; आणि त्या गुणयुक्ताला पुण्यक्रिया प्राप्त होते. मुनींच्या या शुभ वाणी ऐकून कन्येला सज्जनांतील श्रेष्ठ असा पती प्राप्त होतो; ती कन्या गुणयुक्त पुत्रांस जन्म देते; ती स्वजनांचें हित व शत्रूंचें निर्दलन करूं शकते. क्षत्रवृत्ति पुरुष पृथ्वीला जिंकतो; अतुल धन संपादन करतो; व शत्रुविजयसंपादितो. याच्या श्रवणानें वैश्याला विपुल धनही मिळतें, व शूद्र जातीच्या पुरुषास उत्तम गति मिळते. महात्म्यांच्या या जुन्या चरित्राचें अध्ययन केल्यानें पुरुषास नैष्ठिक बुद्धि प्राप्त होते. तो दुःखांचा त्याग करून व संगरहित होऊन विरक्त मनानें पृथ्वीवर संचार करितो.

हें मीं कथन केलेलें आख्यान ब्राह्मणमंडळांत पाठ ह्मणणारे, स्थिर चित्तानें व धैर्यानें याचें पुनःपुनः स्मरण करणारे व त्यामुळें सुख भोगणारे लोक या सृष्टींत आनंदानें संचार करोत. अद्भुत वीर्ययुक्त कर्मे करणाऱ्या महात्म्यांचें हें ऋषिकृत चरित्र मीं तुला संक्षेपतः व विस्तारपूर्वक सांगितलें. आतां आणखी काय इच्छा आहे? मीं तुला आणखी काय सांगूं?

१ आमचे लेखी पोथींत या अध्यायाचे अखेर ' इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां खिलेपु हरिवंशे भविष्यं समाप्तं ' असा शेरा आहे; व त्यावर नीलकंठाचाही शेरा " इति० भारतभावदीपे हरिवंशांतर्गत भविष्यांत ग्रंथार्थ प्रकाशः । " असाच आहे. इतकेंच नव्हे तर यापुढील संबंद पान कोरें सोडून-पुढील अध्यायाचा आरंभ एकादे स्वतंत्र प्रकरणाप्रमाणें केला आहे. व अध्याय ७ ते २६ अखेर ' पुष्कर-खंड ' असें नांव देऊन सविंसाव्याच्या शेवटीं ' समाप्तश्चायं ग्रंथ ' असा शेरा आहे.

१ चतुर्थराचें ह्मणणें वृक्षापासून अन्य वृक्षांची वृद्धि होते; पण व्यासवाणीनें व्यासांचीच वृद्धि होते हें नवल आहे.

## भविष्यपर्वातील

## पुष्करप्रादुर्भाव किंवा पुष्करखण्ड.

—:०:—

( अ० ७—३२ ) चा खुलासा.

हरिवंशांतील या तिसऱ्या पर्वाला जरी ' भविष्यपर्व ' अशी संज्ञा दिली आहे, तरी या सर्व पर्वभर भविष्यकथन केलें आहे, असा प्रकार मुळीच नाही. भविष्यकथनाचे यांत काय ते तीनच ( २, ३, ४ ) अध्याय आहेत. तथापि तेवढ्यावरून सर्व पर्वाला ' भविष्य ' हेंच नांव ठेविलें आहे. दुसरी गोष्ट, या भविष्यपर्वाच्या सातव्या अध्यायापासून तो ३३ व्या अध्यायापर्यंत सव्वीस अध्यायांचा एक स्वतंत्रच भाग मानून त्याला 'पुष्करप्रादुर्भाव किंवा पुष्करखण्ड' असें नांव दिलें आहे. यांत वरवर वाचणाराला जरी जगदुत्पत्त्यादि विषय लिहिले आहेतसे वाटतें तरी विचक्षण व अधिकारी वाचकाला हें सर्व खण्ड अध्यात्मपर आहेसें कळतें, असें टीकाकार चतुर्धर म्हणतो. बाकी हा अध्यात्मपर अर्थ सामान्यास कळणें शक्य नाही. त्याला समर्थच विद्वान् पाहिजे. नीलकंठ तर या कामीं कांहींसे अहंकृतिपूर्वक उद्गार काढितो. तो म्हणतो:—  
कस्यंबकमृते कालकूटभं पुष्करोद्भव ।

कंठे कर्तुं क्षमो लोके कामजित् पुरुषोत्तमः ॥

अर्थ:—कालकूटाप्रमाणें कठिण असें हें पुष्करोद्भव खण्ड व्यंबक ( शंकर, नीलकंठ चतुर्धर ) यावांचून दुसरा कोण कामजयी ( मदनशत्रु, निष्काम ) पुरुषश्रेष्ठ कंठी धारण करण्यास ( स्वीकारण्यास ) समर्थ आहे ?

याप्रकारें अहंघोषणापूर्वक आपल्या अधिकाऱ्याचें वर्णन करून नीलकंठ म्हणतो, या खंडांतील सातवे अध्यायाचे नववे श्लोकांत ' वक्तुमर्हसि धर्मिष्ठ यशो नारायणात्मकं ' येथून उपक्रम

करून वक्तिसाव्या अध्यायाच्या १० व्या श्लोकांत ' अधीत्य सर्वमध्यात्मं देवलोके महीयते । एष पौष्करको नाम प्रादुर्भावो महात्मनः । या श्लोकानें जेथें उपसंहार केला आहे, अशा या षड्विंशत्यध्यायीचें ब्रह्मपरत्व निश्चित दिसून येतें. आतां वरदृष्टीच्यांस या अध्यायांत जगदुत्पत्तिवर्णन आहेसें भासेल तरी तें महावाक्यानें ( तत्त्वमस्यादि ) प्रतिपाद्य जें ब्रह्माद्वैत त्याचें ज्ञान व्हावें म्हणूनच आहे. या खंडांत ठिकठिकाणीं ' एकार्णव ' ' देवासुर ' इत्यादि जे व्यावहारिक शब्द दिसतात, ते देखील, ' अजामेकां०, ' ' द्वासुपर्णा० ' इत्यादि श्रुतींतील ' शेळी व पक्षी ' या शब्दां-प्रमाणेंच केवळ रूपकी भाषेतील समजून ब्रह्मपरच लावावे. श्रुतीला अशाच भाषेनें ब्रह्मतत्त्व निरूपण करण्याची संवयच आहे. इकडे पाहून प्रस्तुत खंडांतील ' एकार्णव ' या शब्दाचा अर्थ ' विशुद्ध चित् ' असा समजावा. ' विष्णु ' शब्दाचा अर्थ ' अव्याकृत आकाश ' असा समजावा. ' पुष्कर ' शब्दाचा अर्थ ' द्विविध कार्य ' समजावा व ' सुरासुर ' या शब्दाचा अर्थ ' शम व काम ' असा समजावा.

व्यासांनीं हें अध्यात्मतत्त्व निरूपण असें लक्ष्यार्थानें किंवा द्वाविडीप्राणायामानें कां केलें, तर ' परोक्षप्रिया हि वै देवाः '—विद्वानांना हें पर्यायानें किंवा अप्रत्यक्ष पद्धतीनें बोलणें रुचतें ' अशी म्हण आहे. शिवाय नीलकंठ म्हणतो, ' चक्रे दुर्जनचोरेभ्य स्तत्त्वरत्नं सुरक्षितुं '—दुर्जनरूपी चोरांपासून हें अध्यात्मरूपी रत्न सुरक्षित राखण्याकरितां व्यासांनीं कथाभागरूपी चिंध्यांत गुरफाटून ठेविलें.

येथें असा प्रश्न येतो कीं, एक तर वेदाचा अर्थ सामान्यांस न कळे इतका गूढ म्हणून तो आबालवृद्धांस कळविण्याचे उद्देशानें व्यासांनीं हीं पुराणें रचलीं, मग तेथेंही पुनः तीच मेख



कायम ठेवणें याला समंजस कसें म्हणावें ? दुसरें, नीलकंठ म्हणतो त्याप्रमाणें व्यासांनीं खरोखरच जर हें रत्न गुपित ठेवलें असेल तर तें नीलकंठांनं तरी उघडें करून टाकणें म्हणजे व्यासांचे हेतूविरुद्ध आचरण करणें नव्हे काय? पण या प्रश्नाचें उत्तर द्यावयाचें कोणीं?

असो; भविष्यपर्वीच्या येथपर्यंतच्या अध्यायांत कालमाहात्म्यानें संसारी जीवांची अतिशय भयप्रद स्थिति होणार हें ऐकून जनमेजयाला अत्यंत उद्वेग प्राप्त झाला. यांतून जीवांचा तरणोपाय कसा लागावा अशा विवंचनेंत तो पडला असतां 'तरति शोकमात्मवित्' व 'नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय' म्हणजे 'केवळ आत्मवेत्ताच दुःखातीत होतो; आत्मज्ञानानेंच मात्र दुःखमोक्ष होतो; याहून दुसरी गति नाही; ' हीं श्रुतिवाक्यें त्याला स्मरून त्याला खास दिमून आलें कीं, 'आत्मज्ञानाशिवाय शोकतरणाला दुसरें कोणतेंही साधन नाही' त्या अर्थी त्या आत्मसाधनाचीच आपण या व्यासशिष्याकडून सविस्तर माहिती करून घ्यावी, असा उद्देश मनांत आणून पुढील २६ अध्यायांतील प्रश्नोत्तररूपानें त्यानें पुरापुर आत्मज्ञान करून घेतलें आहे, असें नीलकंठाचें म्हणणें आहे.

हें षड्विंशत्यध्यायात्मक खण्ड पाहिलें असतां नीलकंठांनीं हा वर दिलेला उद्देश त्यांत फारशा स्पष्ट शब्दांनीं दिलेला आढळत नाही. शिवाय हा अध्यात्मपर अर्थ स्वतः नीलकंठांनं आपसुखें लादला नसला तरी शब्दांतून ओढूनच काढिला आहे. ह्याचे पूर्वींचे कोणी टीकाकारांनीं तो केलेला नाही असा नीलकंठाचाच पुढील श्लोकांत स्पष्ट उल्लेख आहे. ग्रंथाचे अखेर तो म्हणतो:—

परैरदर्शितः पन्थाः पौर्वापर्येक्षयामया ।

यथा कथंचिदुच्चीतः सुधियः शोधयन्तु तम् ॥

अर्थ:—हा अध्यात्मपर अर्थाचा मार्ग मला दुसऱ्या कोणी दाखविला नसून मागील पुढील संदर्भाकडे पाहून मीं आपलेच बुद्धीनें कसाबसा उगविला आहे; तर आतां जे सुधी असतील त्यांनीं तो या धोरणानें पुरापुर शोधावा.

ही स्वतः नीलकंठाचीच कबुली आहे. शिवाय हे सव्वीस अध्याय तपासून पाहतां जरी क्वचित् क्वचित् कांहीं शब्द किंवा वाक्यें अध्यात्मगर्भ आहेत, व नीलकंठासारख्या गाढ्या पंडितांनं व्युत्पत्तिबलांनं, बुद्धिबलांनं व गीर्वाणभाषेच्या अनेकार्थत्वसंपत्तीनें सामान्य वाचकांच्या ध्यानांत न येणाऱ्या अशा कित्येक शब्दांवर व वाक्यांवर इष्टार्थ लादला आहे तरी या खण्डातील प्रत्येक शब्दनीशब्द रूपकी आहे, असें नीलकंठालाही दाखवितां आलेलें नाही. सारांश, येथें द्राक्षापाक तरी खचीत नाही. फार केलें तर नारीकेल पाक मिळेल; पण, तो ज्याच्या अंगांत शक्ति असेल त्याचा.

नीलकंठांनीं केलेला अर्थ जरी ध्यानांत घेतला तरी त्याचें वास्तव्य ज्ञान होण्याची योग्यता हजारोंतून एखाद्याची असेल कीं नाही. कारण, जो कोणी गुरुपदिष्ट मार्गानें कैवल्यसमाधीपर्यंत जावयास शिकला असून पातंजलादि योगग्रंथ व उपनिषदादिकांतील आध्यात्मिक भाषा यांशीं दृढ परिचित असेल ह्याजें "शाब्दे परेच निष्णातः" असेल अशालाच त्या अर्थापासून आनंद होईल. इतरांना क्लेश मात्र होतील. कदाचित् ज्याला संस्कृताचें बरेंचसें ज्ञान असून संस्कृत मूळ व त्याची टीका हीं डोळ्यांपुढें येतील त्याला शब्द चमत्कृतीनें व अर्थवैभवानें तरी कांहींशी मौज वाटे. परंतु, ज्याला संस्कृताचें ज्ञान नाही व केवळ महाराष्ट्र पर्याय शब्दांनींच हा गूढार्थ वाचणें प्राप्त आहे, अशाला तो सर्वथा नीरस वाटे. पण येथें आमचा उपाय नाही, मन्मथनाथ

दत्तांनी आपल्या इंग्रजी भाषांतरांत तर या अर्थाला बहुधा फांटाच दिला आहे. मन्मथनाथ म्हणतो की, हे खंड प्रक्षिप्त असवें. निदान हे ओघाने आले आहे, असें आम्हांसही वाटत नाही. आम्हांलाही 'सुरस भाषांतराचे' दृष्टीने आध्यात्मिक अर्थात न पडणें अधिक सुखावह झालें असतें. परंतु, वाईकरांनी तो अर्थ थोडा बहुत दिला आहे. तेव्हां आम्हीच न द्यावा तर वाचकांस रुचणार नाही. म्हणून आम्हीही स्थलविशेषी दिला आहे. त्यापासून वाचकांचें कितपत समाधान होईल व त्यांना योगमार्ग व अध्यात्मव्युत्पत्ति कितपत निर्मळ समजेल तें हरि जाणे.

प्रसिद्ध शारीर भाष्यकर्ते शंकराचार्य यांचें भारतावर भाष्य करण्याचें काम नसतांही त्यांना जे आध्यात्मिक दृष्ट्या विशेष महत्वाचे भाग वाटले, त्यांवर त्यांनी भाष्य केलें आहे. उदाहरणार्थ, उद्योगपर्वीतील "सनत्सुजातीय" भीष्मपर्वीतील 'श्रीमद्भगवद्गीता' अनुशासनांतील श्रीविष्णुसहस्रनाम. पण त्यांनीही या पुष्करखंडावर भाष्य केल्याचें कोठें आढळत नाही. खरोखर असल्या खचरट भागावर तर आचार्यांची दृष्टि विशेष पोंचावयास पाहिजे होती. व नीलकंठास वाटतें आहे, तेवढ्या महत्वाचा हा भाग असता, तर बत्तीस वर्षांचे वयांत जगज्जय करणारा व लोकहितार्थ आणि अज्ञानतिमिरहरणार्थच ज्याचा अवतार, असला असामान्य पुरुष या खंडावर भाष्य करण्यास रहाताना. परंतु त्यांना हा भाग तितका आदरणीय वाटला नसावा. यावरून नीलकंठाचे म्हणण्याला कितपत महत्त्व द्यावें हें समजत नाही.

याहून कांहींसा कमी योग्यतेचा तथापि उपेक्षणीय नव्हे असा दुसरा एक पुरावा 'भारत-मंजरीकार' क्षेमेंद्राचा आहे. क्षेमेंद्र हा दहाव्या

शतकाचे सुमारास काश्मीर महाराजाचे पदरीं असून अभिनवगुप्ताचार्यांचा शिष्य होता. याला एके वेळीं रामयज्ञ नांवाच्या ब्राह्मणानें विनंति केली की, आपण संक्षेपानें भारतकथा लिहावी. त्यावर क्षेमेंद्रानें उत्तर केलें की, व्यासांनीं स्वप्नांत येऊन मला या पूर्वांच ह्याविषयी आज्ञा केलेली आहे, त्याअर्थी ही तुझी विनंति मी अवश्य मान्य करितों. असें म्हणून त्यानें 'भारतमंजरी' नांवाचा भारताचा संक्षेप लिहिला. यांत त्यानें भारतांतील महत्त्वाचे सर्व प्रकरणांचा समासतः संग्रह केला आहे. हरिवंश हा भारताचाच एक भाग आहे असा त्याचाही अभिप्राय असल्यानें त्यानें हरिवंशाचे तिन्ही पर्वांचाही आपले संक्षेपांत समावेश केला आहे, असें निर्णयसागरांतील 'काव्यमाला' नांवाच्या पुस्तकावलींत छापून प्रसिद्ध केलेल्या त्याच्या 'भारतमंजरी' ग्रंथाच्या अनुक्रमणिकेवरूनच दिसतें. याशिवाय ग्रंथाचे अखेर क्षेमेंद्रानें आपल्या कृतीचें स्वरूप स्वतःच दिलें आहे, तेथें तो म्हणतो:—

‘मद्वचोदर्पणतले महाभारतदिग्विपः ।

समस्तावयवोऽप्येष मुष्टिमेय इवेक्ष्यते ।

म्हणजे माझ्या ह्या 'संक्षेप' रूप आरशांत महाभारतरूपी विशाल दिग्जाचें प्रतिबिंब जरी एकही अवयव न सोडतां मी घेतलें आहे, तरी दर्पणाचे संकुचितपणामुळें तें सर्वांगयुक्त असतांही मुठींत मावण्याजोगें झालें आहे.

या त्याच्या म्हणण्यांतील 'समस्तावयवोऽपि' हे शब्द ध्यानांत घेण्याजोगे आहेत. 'पुष्करखंड' हा भाग नीलकंठाला वाटतो आहे तितपत महत्त्वाचा जर खरोखर असता तर असला गाढा पंडित इतक्या योग्यतेच्या प्रकरणाची उपेक्षा खास करिताना. विशेषतः प्रत्यक्ष व्यासमुनींनीं त्याला स्वप्नांत आज्ञा दिलेली असतांना व नीलकंठाचे म्हणण्याप्रमाणें हें



खंड म्हणजे चतुर व्यासमुनींनीं दुर्जन चोरांपासून राखण्याकरितां रत्नमंजूषेप्रमाणें कडेकोट बंदोबस्तानें केलें असतांना व्यासांच्याच चोदनेवरून लिहिणारा क्षेमेंद्र त्यांच्या या रत्नसंग्रहाचा अनादर करील असें म्हणणें अंमळ अवघड पडतें.

असो; या प्रकारचे जरी या प्रकरणाचे महत्वाविरुद्ध बरेचसे पुरावे आहेत तरी नीलकंठाळादेखील अगदींच भ्रमिष्ठ असें म्हणवत नाहीं. कारण, या प्रकरणांत ठिकाठिकाणीं नीलकंठाचे म्हणण्यास पोषक अशीं वाक्यें निःसंशय आढळतात. पण इतकेंच कीं, हीं मध्येंमध्ये आढळणारीं वाक्यें म्हणजे दांतांचे सांपटींत अडकलेले शितांप्रमाणें आहेत. ह्मणजे हीं कितीही कुशलतेनें साफ कोरून खाल्हीं तरी त्यांनीं पोट मिळून भरणें नाहीं. अर्थात्, नीलकंठांनीं माराकुटीनें निपजविलेला समग्र भाग जरी पोटांत घेतला तरीही वाचकांची 'योग किंवा अध्यात्मविद्या' यांसंबंधें एकादे भागाची तरी पुरापुर तृप्ति होईल अशी गोष्टच नाहीं. फार झालें तर त्याची भूक चाळविल्यासारखें होईल. इतकेंच. तथापि, नीलकंठांनें इतपत जिवापाड श्रम करून हें प्रकरण इतक्या रंगरूपास आणिलें आहे त्या अर्थी श्रीहर्ष म्हणतो कीं, 'प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्गस्तुपुरुषबहुमानात्' अशांतला कांहीं तरी न्याय स्वीकारून नीलकंठाचेच बळावर आम्हीही या प्रकरणीं आमचे शक्तीप्रमाणें आध्यात्मार्थाची छटा दाखविली आहे. परंतु या खंडांत जी माहिती दिली आहे ती एकंदर रूपकी भाषेनें गुरफाटली गेली असल्यामुळें सामान्यांस दुर्बोध आहेच. पण जरी टीकेचे किंवा भाषांतराचे साह्यानें कोणास ती सुबोध झाली तरी ती मुळांतच तुटक तुटक असल्यामुळें तिजपासून विषयाची धडसमजूत पडत नाहीं. येथें एक

चिंधी, तेथें एक चिंधी असा प्रकार असल्यामुळें नुसत्या चिंध्या एक गाठोडेंभर मिळाल्या तरीही अंगभर आच्छादनाचें किंवा शीत निवारणाचें काम होत नाहीं. यामुळें या चिंध्या वस्तुतः फुकटच जातात. असा प्रकार न व्हावा ह्मणून आम्हीं यांतील चांगल्या चांगल्या व धड अशा चिंध्या निवडून व त्या ग्राहकांचे सुखाकरितां एके ठिकाणीं जथून त्यांची एक गोधडी तयार केली आहे. अर्थात्, ही गोधडी म्हणजे अखंड व ध्रुवट पासोडा नव्हे, तथापि ही कसेंभसें तरी शीतनिवारण करूं शकेल असें वाटतें.

ही आमची गोधडी ह्मणजे पुढें दिलेलें 'योगखंड' होय. याला आम्हीं मुद्दाम 'खंड' असेंच नांव दिलें आहे. कारण, यांत योगाची सांगोपांग व संपूर्ण अशी माहिती दिलेली नाहीं. कारण तसें करणें ह्मणजे एक प्रकारचा अतिप्रसंग करणेंच आहे. तें आमच्या प्रतिज्ञेच्या व ग्रंथमर्यादेच्या बाहेरचें आहे. यास्तव आम्हीं पुढील सव्वीस अध्यायांत ज्या ज्या मुद्यांचा थोड्याबहुतानें उल्लेख आला आहे अशा मुद्यांची वाचकांस स्पष्ट कल्पना आणून देण्यास जरूर तेवढे भाग अंमळसे विस्तारानें दिले आहेत एवढेंच; व वाचकांनीं तरी यां खंडाचा याच दृष्टीनें परिचय करावा. याचे योगानें त्यांना पुढील भागांतील कांहीं रूपकांचा बोध होईल. उदाहरणार्थ—पुढील खंडांतील प्राणायामाचे माहितींत प्राण व अपान 'या दोन वायूंचे एकीकरणाला दूध पाण्याचे मिसळण्याची उपमा दिली आहे. यालाच प्राणाग्नींत प्राणाचें हवन करणें असें म्हटलें आहे. याच प्राण व अपान यांचे झटापटीला (कारण ते एकाएकीच मिसळत नाहीत; त्याला बरीच झटपट करावी लागते) 'देवासुर युद्ध.' असें म्हटलें आहे. 'सत्व

व मोह ' किंवा, ' शम व काम ' यांचे झगड्यासही कचित् स्थळीं ' देवासुरयुद्ध ' अशीच संज्ञा दिली आहे. देहाला ठिकठिकाणीं पर्वताची उपमा दिली आहे. कुठे कुठे ' भूघ्राण ' मध्यालाही पर्वत झटलें आहे. योग्याला ठिकठिकाणीं ब्रह्मा झटलें आहे. सत्वाला विष्णु झटलें आहे. मोहाला मधुदैत्य झटलें आहे. प्राणावर अग्नीचें रूपक केलें आहे. इ० इ०

' योगखंड ' वाचल्यानें रूपकांचा बोध होईल ह्मणून आम्हीं वर झटलें आहे, ह्याचा अर्थ या पुष्करखंडांत ' योजलेलेच शब्द तेथें सांपडतील असा मात्र कोणी समजू नये. कारण, आमचें योगखंड, पवनविजय, हठयोगप्रदीपिका, स्वरोदय व मुख्यतः पातंजलयोगदर्शन या ग्रंथांचे आधारें लिहिलेले आहे अर्थात्च या ग्रंथकर्त्यांना रूपकी भाषा लिहिण्याचें प्रयोजन नसल्यानें त्यांनीं केवळ योगशास्त्राचीच परिभाषा वापरली आहे. आणि तिचाच सारांश आमच्या या खंडांत आहे. तेव्हां या पुराणांतील रूपकी शब्द त्यांत सांपडणार नाहीत; परंतु, अमुक रूपक अमुकावर केलें असावें असा तर्क बांधण्यास साह्यभूत असा मजकूर त्यांस आढळेल. उदाहरणार्थ, इडा, पिंगळा व सुषुम्ना यांचें वर्णन वाचतांच येथें गंगा, यमुना, सरस्वती व त्यांचे योगास त्रिवेणी संगम व तो जेथें होतो त्या शरीराचे भागास प्रयाग किंवा तीर्थराज झटलें असावें. हा तर्क सामान्य बुद्धीचे वाचकांस करितां येईल. अशा तऱ्हेनें या योगखंडाचा उपयोग समजावा.

आजकालचे लोकांची या ऋषिप्रणीत गूढ शास्त्रावर श्रद्धा बसावी ह्मणून या योगखंडाचाच एक भाग कल्पून आम्हीं आजकाल अमेरिकेसारख्या वेदबाह्य व परस्थ लोकांची या योगशक्तीचे संबंधांत अनुभवसिद्ध साक्ष दिली आहे. तीवरून आस्तिक नास्तिक सर्वांची

खात्री होईल कीं भगवान् पातंजली व अन्य ऋषिवर्य यांनीं अतींद्रियदर्शन, त्रिकालज्ञान, अमानुष शक्ति इत्यादिकांचीं जीं सर्वत्र वर्णनें दिलीं आहेत तीं केवळ बाडा नसून सत्यस्वरूप आहेत; आणि आमचे ऋषिवर्गांनीं आह्मांला ' नर ' असतां ' नारायण ' होण्याचा जो मार्ग दाखवीला आहे तो काल्पनिक नसून खरा खरा आहे. आणि वाचकवर्गाची एवढी जर खात्री होईल तर आमचे श्रमाचें सार्थक होईल. या इंग्रजी उताऱ्याचें इंग्रजी न समजणाऱ्या वाचकांकरितां भाषांतर देण्याचें मनांत होतें, परंतु ग्रंथ अमर्याद वाढूं लागला. यास्तव आम्हीं विषयाची कल्पना येण्यापुरते संक्षेप दिले आहेत. ज्यांची जिज्ञासा यांनीं न मागेल त्यांनीं कोणातरी आंग्लभाषाभिज्ञा कडून मूळचे उतारे शब्दशः समजून घ्यावे. अशी त्यांस विनंती आहे.

## अध्याय सातवा.

—:—

### पुष्करप्रादुर्भाव.

जनमेजय म्हणाला:—सागराच्या उदकांत शयन करणाऱ्या पद्मनाभाचा महिमा व पूर्वीं कमलामध्ये ऋषिगणांसह देव कसे उत्पन्न झाले हा सर्व योग, हे योगवेत्त्यांतील श्रेष्ठा, मला सांग. त्याची ( नारायणाची ) कीर्ति ऐकत असतां माझ्या मनाची तृप्ति होत नाही. तो पुरुषोत्तम ( सागरजलांत ) किति कालपर्यंत निजणार ? स्वतः काळाचें कारण असतांही तो काळांत ( काळाचे अधीनत्वानें ) कां निजतो ? म्हणजे परिमित काळींच जगताची उत्पत्ति स्थितिलय त्याला कां करावे लागतात ? तो देवाधिपति किति काळानें जागा

होतो? ( प्रलयकालाची मर्यादा किति ) त्या भगवंतानें उठून हैं सारें जग कसें निर्माण केलें? हे महामुने, पूर्वीं प्रजापति कोण कोण होते? त्या सनातन प्रभूनें हैं चित्रविचित्र जग कसें निर्माण केलें? तसेंच, सर्व जगत् एक समुद्रमय होऊन सर्व स्थिरचर वस्तु नाश पावल्या असतां, देव, असुर, नाग व राक्षस यांचे संघ नष्ट झाले असतां, जगांतील अग्नि व वायु नष्ट झाले असतां, आकाश व पृथ्वी नाश पावलीं असतां, व महाभूतांचा प्रलय होऊन हैं सर्व केवळ शून्यरूप ( गुहारूप ) झालें असतां, महाभूतांचा अधिपति, महातेजस्वी, महामूर्तिमान् ( चिदात्मा ) ( विराट ) व श्रेष्ठ देवगुरु असा प्रभु कोणत्या प्रकारें ( म्हणजे कशाच्या आश्रयानें ) राहतो? हे धर्मिष्ठ ब्राह्मणा, मी तुला शरण आलों आहे यास्तव हैं नारायणाचें यश, ( शुद्ध वस्तूचा वैभव विलास ) मजला निःसंशयपणें सांगण्यास तूंच योग्य आहेस. त्या महात्म्याचे पूर्वीं होऊन गेलेले व पुढें होणारे ( किंवा ज्ञान्यांना नित्यसिद्ध व मूढांना नव्यानें

या श्लोकाचा अध्यात्मपर अर्थ नीलकंठानीं केला आहे तो:—

सागर म्हणजे समुद्राप्रमाणें अनंत व अपार जें रसमय, श्रुतिप्रसिद्ध निष्कल ब्रह्म त्याचे ठिकाणीं, स्वपत् म्हणजे आपल्या मायातीतरूपाचे ठिकाणीं म्ह० केवळ्य समाधीत लीन असणारा जो पद्मनाभ—पद्म शब्दानें लक्षित जो हा सर्व कार्यप्रपंच तो ज्याचे नाभीचे म्हणजे गर्भाचे ठिकाणीं आहे, अर्थात् पद्मनाभ म्हणजे जो मायोपाधि ईश्वर त्याचा प्रभाव म्हणजे सृष्टिरचनासामर्थ्य कशा प्रकारचें होतें त्याचें वर्णन कर. त्याचप्रमाणें पुष्कर म्हणजे अव्याकृत आकाश त्याचे ठिकाणीं देव, ऋषि म्हणजे इंद्रियें प्राण व सूत्रात्मा हीं कशीं निर्माण झालीं हेही कथन कर. मला परमात्म्याशीं योग कसा करावा म्हणजे तद्रूप कसें होऊन जावें याचा उपाय सांग. अशा गूढ अर्थाचा जनमेजयाचा हा प्रश्न आहे.

२ येथें आमचा लेखीपाठ “ महामति ” असा आहे. व नीलकंठानीं तोच घेतला आहे.

३ वक्तुमर्हसिधर्मिष्ठ यशो नारायणात्मकं श्लो०९ अ० ७

होणारे ) प्रादुर्भाव, हे भगवन्, श्रद्धेनें ऐकावयास बसलेल्या आम्हांस सांगणें आपणास उचित आहे.

वैशंपायन म्हणाले:—हे निष्पापा, कुरुकुलश्रेष्ठा, तुला नारायणाचें यश ऐकण्याविषयीं जी स्पृहा उत्पन्न झालेली आहे, ती तुझ्या कुलाला उचितच आहे. ही स्पृहा ( यज्ञादि ) पवित्र कर्माच्या अनुष्ठानाचें फळ आहे. आदिपुराणांमधून, देवतांपासून, श्रुतीला अनुसरून, महात्मे ब्राह्मण बोलत असतां आम्हीं जें ऐकिलें त्यावरून, तसेंच मोठ्या तपानें ज्याचें दर्शन झालें असे बृहस्पतितुल्य तेजस्वी पराशरपुत्र जे आमचे गुरु द्वैपायन ( व्यास ) त्यांच्या सांगण्यावरून, तें मी तुला यथाबुद्धि व यथाज्ञान सांगतों. तें तूं श्रवण कर. हे भारता, मी केवळ मंत्रद्रष्टा झाल्यानें तें मला जाणतां येणें शक्य नाहीं. ज्याचें तत्त्वज्ञान ब्रह्मदेवाला देखील होत नाहीं, अशा विश्वात्म्या नारायणाचें परमश्रेष्ठ (यश) जाणण्यास कोण समर्थ आहे? सर्व देवांचें व महर्षींचें जें रहस्य तें मीं ऐकिलें आहे. हेंच सर्व देवांचें व तत्त्वतः तत्त्व सांगणाऱ्यांचें ( रहस्य ) आहे. तें अध्यात्मवेत्त्यांचें चिंत्य ( ध्येय ) आहे. कर्मठांचें प्रवर्तक आहे. देवांचे ( विद्वानांचें ) जें अधिदैव ( म्हणजे ज्ञानरूपी महाभाग्य ) त्याला देव असें म्हणतात. जें भूत ( अनादि ) व अधिभूत ( म्ह० अनंत ), जें महर्षींना परमश्रेष्ठ, जें सत्य, देवांनीं ( विद्वानांनीं ) पाहिलेले, तें वेदवेत्ते जाणतात. जो कर्ता, करविणारा, बुद्धि, मन, तसेंच क्षेत्रज्ञ, प्रधान, पुरुष, शास्ता तो एकच परमात्मा होय. तो कालस्वरूपी असून कालालाही निजवितो ( म्हणजे त्याचाही लय करितो ). तो द्रष्टा, तसाच स्वतंत्रही आहे. तो पंचविध प्राण असून निश्चल ( वस्तु ) व

अक्षय आहे. हे निष्पापा, तन्निष्ठ लोकांकडून तो ( त्यांनींच दिलेल्या ) विविध भावांनीं संबोधिला जातो. तोच भगवान् सर्व कांहीं घडवितो, व बिघडवितो. जो आम्हांकडून कार्य करवितो त्याच्याचयोगें आम्ही विधिनिषेधांच्या घोंटाळ्यांत सांपडतो. आम्ही त्याच परमेश्वराचें पूजन करितों व शांत झालों असतां त्याचीच इच्छा बाळगतो. जो वाचेचा प्रवर्तक, जो वाचेचा विषय, जो मी वक्तृत्वाभिमानी ( जीव ) आपणांस कांहीं सांगतो, जें आपण हें ऐकतां, जो मोक्ष व जें कांहीं इतर आपण बोलतां, ज्या कांहीं कथा ( लोकांत ) आहेत, गूढ अर्थानीं युक्त श्रुति आहेत, —त्या सर्व, आणि विश्व, विश्वपति व सर्व देव हे सरोहि नारायणात्मक आहेत. जें कांहीं लौकिकसत्य व असत्य, कारण व कार्य, भूत व भविष्य, परस्परजनक ( बीजांकुरादि ), तसेंच त्रिमुवनांत असणारें जें कांहीं चर व अचर आहे, तें सर्व हा श्रेष्ठ असा पुरुषोत्तम प्रभुच होय.

## अध्याय आठवा.

—:०:—

### द्वितीय प्रश्नोत्तर.

वैशंपायन म्हणतात:—हे जनमेजया, कृतयुगांची कालगणना चार हजार वर्षांची आहे असें म्हणतात. त्याची संध्या त्याच्या दुष्पट शंभर वर्षांची ( म्हणजे आठशें वर्षांची ) आहे. त्या युगांत धर्म चतुष्पाद व अधर्म एकपाद

१ या अध्यायांत कृतादि युगांची कालसंख्या सांगितली आहे. इतकीही दीर्घकाल गणना झाली तरी अखेर तिचा अंत आहेच. चार सहस्र युगांचा ज्याचा एक दिवस असला ब्रह्मदेव देखील ठरीव सुदृतीपलीकडे राहू शकत नाही. अर्थात् यावत् दृश्य हें क्षयशील आहे, हा बोध वाचकानें यावरून घेऊन आत्मज्ञान व तत्साधक वैराग्य यांकडे वळावें, असा या अध्यायाचा हेतु आहे, असें चतुर्थ म्हणतो.

( म्हणजे चौथा भाग ) असतो. लोक स्वधर्मनिरत राहून यज्ञयागादिक करितात. त्या युगांत ब्राह्मण धर्मपरायण, क्षत्रिय राजकार्यांत गढलेले, वैश्य कृषिकर्मरत व शूद्र सेवाधर्मांत रत असतात; यामुळे सज्जन ज्यांचें ( स्वतः ) आचरण करितात व आचरण करून लोकांना तसेंच करण्यास ज्याविषयीं उपदेश करितात, अशीं सत्य, तप व धर्म हीं सर्वदा वाढतात. हे भारता, कृतयुगाच्या ठायीं धर्मबुद्धीच्या लोकांची व नीच योनीमध्ये जन्मलेल्या देखील प्राण्यांची वृत्ति अशीच असते. त्रेतायुगाची काल गणना तीन हजार वर्षांची आहे असें म्हणतात; त्याची संध्या तितक्याच दुष्पट शंभर वर्षांची ( म्हणजे सहाशें वर्षांची ) असते असें सांगतात. तेव्हां धर्म त्रिपाद व अधर्म द्विपाद होतो. व सत्य व सत्व ( चांगुलपणा ) हे कृतयुगाप्रमाणेंच चालू राहतात. परंतु त्रेतायुगामध्ये चारी वर्णांचे वर्णांचे लोक धर्मफलाच्या इच्छेनें युक्त होऊन ( किंवा लोभामुळे ) विकार पावतात व याप्रकारें चातुर्वर्ण्याचा बिघाड झाल्यानें ते दुर्बल होतात. हा देवनिर्मित त्रेतायुगाचा विधि तुला सांगितला. द्वापर युगाची देखील चेष्टा आतां तूं ऐक. हे कुरुसत्तमा, द्वापराची कालगणना दोन हजार वर्षांची आहे; त्याची संध्या तितक्याच दुष्पट शंभर ( म्हणजे चारशें ) वर्षांची आहे असें सांगतात. हे कुरुपुंगवा, या युगांत ज्ञानी ब्राह्मण देखील द्रव्यपरायण, रजोगुणी, शठ, कृतघ्न व क्षुद्र असे निपजतात. तेव्हां धर्म द्विपाद होऊन अधर्म तीन पायांवर उभा राहतो. कृतयुगांतील धर्ममर्यादा हळुहळु विपर्यास पावतात. ब्राह्मण्यभाव नाश पावतात, आस्तिक्य नाहीसें होतें; तसेंच द्वापरयुग लागलें असतां व्रतोपवासादिकांचा ( लोक ) त्याग करितात. यापुढें क्रूर कलियुग सहस्रवर्ष व त्याची

संध्या व दोनशें वर्षे मिळून बाराशे वर्षांचे आहे असें म्हणतात. त्या युगांत अधर्म चार पायांनी युक्त होऊन धर्म एक पाद होतो. माणसें कामपरायण व तमोगुणी अशीं निपजतात. तेव्हां कोणी उपवास करीत नाही, किंवा कोणी चांगला, सत्यवक्ता, आस्तिक, किंवा ब्रह्मवक्ताही असत नाही. तेव्हां ब्राह्मण अहंकाराने पछाडलेले व स्नेहबंधने शिथिल झालेले होऊन त्यांचे आचरण केवळ शूद्रांप्रमाणे होतें व शूद्र आचार संपन्न होतात. ते आश्रम बिघडवितात, वर्णाचा संकर करितात, व अगम्य स्त्रियांचे ठाई रत होतात. येणेंप्रमाणे कलियुगांत लोक वागतात. याप्रमाणे बारा हजार वर्षांचे एक दिव्ययुग होतें असें म्हणतात; याचेच एकाहत्तरपट काल म्हणजे एक मन्वंतर होय. हे जनमेजया, युगाच्या अखेरीस कोणीही वेदत्रयीविषयी शंका घेत नाही. दिव्य युग बारा हजार वर्षांचे आहे असें ज्ञानी जाणतात. अशा हजार युगांनी ब्रह्माचा एक दिवस होतो असें म्हणतात. नंतर तो ब्रह्मादिन संपल्यानंतर तो ( परमात्मा ) संहार-बुद्धि-युक्त रुद्र होऊन सर्व प्राण्यांच्या शरीराचा नाश करितो. हे राजन्, सर्व देव, ब्राह्मण, दैत्य, मनुष्ये, यक्ष, गंधर्व, राक्षस, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, किन्नर, अप्सरा, नाग, पर्वत, नदी पशु, तिर्यग्योनिमध्ये पडलेले प्राणी, हरिणें, पक्षी या सर्वांचा, तो महा भूतपति देव नाश करून, तो पंचमहाभूतांचा कर्ता पंचमहाभूतांचाही जगाच्या संहारासाठी नाश करून मोठीच कत्तल उडवितो. सूर्य होऊन तो जीवांचे नेत्र परत घेतो, वायु होऊन सर्व प्राणिमात्रांचे प्राण हरण करितो, अग्नि होऊन सर्व

लोक जाळतो व मेघ होऊन पुनः वृष्टि करितो.

## अध्याय नववा.

—:—

### समाधि व व्युत्थान.

वैशंपायन सांगतात:—तो नारायण योगी ( शुद्ध चिन्मात्र ) सप्तमूर्ति ( महत्, अहंकार व पंचतन्मात्रारूप ) सूर्य होऊन प्रदीप्त अशा किरणांनी ( उद्दीप्त वृत्तींनी ) सागरांतें ( सागराप्रमाणें अपार अशा रूपादि विषयांस ) शोषून टाकतो ( आपल्यांत लीन करितो. ) सर्वही सागर, नद्या, विहिरी वगैरे पिऊन ( सर्व कामांस जिंकून ) पर्वतांतील सर्व पाणी ( कामादिकांचें सामर्थ्य ) किरणांच्या योगें शोषून घेऊन ( स्थूलसूक्ष्मशरीररूप ) भूमीचे हजारों तुकडे तुकडे ( विलापन ) करून तिला रसातळास नेऊन ( कारण ब्रह्मांण मिळवून ) तेथील सर्व जळ ( गुणसमूह ) व रस ( आनंद ) शोषून घेतो. प्राण्यांत दुसरा क्लेद ( आनंद ) उत्पन्न करून तो प्राण्यांना देतो. तो कमलनयन पुरुषोत्तम मग तोही ( आनंद ) सर्व शोषून घेतो. तो हरी बलवान् वार्यु होऊन

१ गताध्यायावरून ब्रह्मादियावत् दृश्यजात विनाशि आहे असें समजतांच श्रोत्याच्या मनांत त्याविषयी वैराग्य उत्पन्न झालें, असें समजा. तथापि, त्याला या विनाशिदृश्याहून विलक्षण असें अविनाशि म्हणजे शाश्वत जें कांहीं असेल त्याचें लक्षण व साधन मिळालें पाहिजे; नाहीतर नुसतें दृश्याबद्दल तोंड फिरवून तो इतोऽर्धस्ततो अष्टः असा होईल. तो प्रसंग न यावा म्हणून त्या अविनाशि पदाला प्रापक असें साधन म्हणजे ' योग ' आहे असें या अध्यायांत सांगितलें आहे.

२ सूर्यकिरणांतील सत्तरंगांवरून त्याच्या सात मूर्ति कल्पिल्या असाव्या. त्यामुळेच सूर्याचे सात घोड्यांचीही कल्पना बसविली असावी.

३ मागले चार श्लोकांत उत्तम अधिकाऱ्याला केवळ मनाचे योगानें साधणाऱ्या योगाचें वर्णन करून यापुढें मध्यम अधिकाऱ्यासाठी वायुनिरोधरूप योगाचें वर्णन करितो, असें चतुर्थे म्हणतो.

१ कृत+संध्या=( ४८०० )+त्रेता+संध्या=( ३६०० )  
+द्वापर+संध्या=( २४०० )+कलि+संध्या=( १२०० )  
=१२०००

( मूलाधारादि सर्व चक्रे भेदण्यास समर्थ होऊन ) व सर्व जगाला ( पादादि—जानुपर्यंत सर्व शरीर ) हालवून सोडून वायूच्या योगाने देवांचे ( इंद्रियांचे ) प्राणोदय करितो ( वायुज्याने पंचप्राणेंद्रियांस भ्रूमध्यांत किंवा ब्रह्मरंध्रांत खेचून नेतो. ) नंतर सर्व देवगण व देही यांचे सर्व इंद्रियगण व दुसरे शब्दादि विषयही त्याच्यापासून उत्पन्न होतात. गंध, घ्राणेंद्रिय व शरीर हे गुण पृथ्वीचा आश्रय करून राहिलेले आहेत. जिह्वा, रस व क्लेद हे गुण जलाच्या आश्रयाने राहतात. रूप, चक्षुरिंद्रिय व विपाक ( पक्वता ) हे गुण ज्योतीच्या ( उष्णतेच्या ) आश्रयाने राहतात. स्पर्श, प्राण व चेष्टा ( कर्म ) हे गुण वायूच्या आश्रयाने राहतात. पण हे सर्व गुण परमेष्ठी, उपासना करण्यास योग्य व इंद्रियांचा ईश अशा देवाचा ( सूत्रात्म्याचा ) उत्तम प्रकारे आश्रय करून राहतात.

नंतर भगवंतांने ( सूत्रात्म्याने ) आपल्या किरणांनी ( सूक्ष्मवृत्तींनी ) त्यांचे परिवारण केल्यामुळे व वायूने ते आकर्षिले गेल्यामुळे रूपादि विषय व इंद्रियगण यांस एकमेकांचे स्वरूपाचा आश्रय करावा लागून त्यांच्या परस्पर संघर्षणाने अग्नि शंभर पटीने देदीप्यमान होऊन, मग उग्र असा तो संवर्तकाग्नि सकल जगतास जाळितो. ( सर्व कर्मेच भस्मसात केलीं ) पर्वत, वृक्ष, गुल्म, लता, वेली, गवत, दिव्य विमाने, विविध नगरे, पवित्र आश्रम,

दिव्य देउळे व इतर जी जी आसऱ्याचीं म्हणून स्थाने ( शरीरे ) आहेत तीं सारीं त्याने जाळिलीं. नंतर भस्मीभूत झालेल्या सर्व लोकांस लोक गुरु हरिने, जलयुक्त कर्माने ( अविद्याशेषाने ) पुनः शांत केले. त्या सहस्रनेत्र ( विषयपरत्वे भिन्नदृष्टि असणारा ) महा तेजस्वी ( योग्याने ) कृष्ण ( संहर्ता ) व महामेघ ( जगदंकुर-स्रष्टा ) होऊन दिव्य जलरूपी हवीने ( समाधीत चिच्छंद्रमंडलापासून प्राप्त झालेल्या अमृतांने ) पृथ्वीला तृप्त केले. ( व्युत्थान होतांच शरीर चेतनेने व्यापिले ) नंतर दुधासारख्या, गोड, शुभ व पुण्य अशा श्रेष्ठ जलांनी ( चित्त-सत्त्वाकार चैतन्यामृतांने ) पृथ्वी ( सूक्ष्म व स्थूल हे देहद्वय ) अतिशय शांत झाली. पर्वत पाण्यांनी व्यापून जाऊन व चोहोंकडे मेघच मेघ होऊन, ते प्राणिरहित व एकसमुद्रमय झाले. महाभूतेही मग त्या अमर्याद तेजस्वी परमात्म्याच्या ठाई शिरलीं. ( लय पावली. ) सूर्य व वायु नसलेल्या, जनरहित व सूक्ष्म आकाशांत मग एकटाच सनातन प्रभु, सर्वांचे शोषण व पान करून ( पृथक् विषयांचे भान ब्रह्मांत लीन करून ) राहातो. तो अमर्याद बुद्धिमान् योगी योगाचा आश्रय करून ( दुःखरहित होऊन ) एकार्णव जलाचे ठायीं पुराणरूप धारण करून राहिला. तो एकार्णव

१ या म्हणण्याचे तात्पर्य इतकेच कीं, योगी हा समाधिकालीं जरी कारणासह सर्व कार्यप्रपंचाचा लय करून द्याकितो तरी व्युत्थान होतांच कारणभूत अविघ्नच्या शोषाने तो प्रपंच उभा राहतो. कारण, ज्ञान झाले तरीही देहपात होईतो थोडा तरी मायेचा झटका उलट खावयास लावीत असतो.

२ योग्याला बाह्य जगत् देखील चिन्मात्रेकरसमयच दिसत असते.

१ चक्षुःश्रोत्र घ्राणादि इंद्रिये व त्यांचे रूपादि पृथक् विषय हे पंचधा होऊन विभक्तसे दिसतात, परंतु या पांच भिन्न दारांनी विषयांचा भोग घेणारा जो अंतर्धामी त्याचे ठिकाणी हे लीन झाल्यावर यांचे पार्थक्य अर्थात्च नष्ट होते. झाडाच्या फांद्या वेगळ्या असल्या तरी मूळचे बुडल्यांत त्या एकरूपच असतात.



जलाचे ठायीं असतां (समाधीत) हजारों पृथक् भावानें असणारे पदार्थ एकरूप होऊन राहिले. त्या अव्यक्त प्रभूला कोणी व्यक्तपणें जाणण्यास समर्थ नव्हता.

जनमेजय विचारतो:—हा आपण आतां सांगितलेला एकार्णवाचा विधि कोणता ? हा पुरुष कोण ? योग कोणता ? व योगवान् कोण ?

वैशंपायन सांगतात:—हा भगवान् इतके दिवसच ( किंवा इतक्या दिवसांनीच ) एकार्णवाचा विधि करील असें कोणी निश्चयानें जाणू शकत नाही. याचें माप घेणारा, याला पाहणारा, याला जाणणारा, किंवा याच्या जवळ असणारा, कोणी नाही. ( कारण त्या स्थितीत अहंकार व साक्षी हे नष्ट असतात )

१ या ठिकाणीं मूळांत अयुत हा शब्द आहे व तेथे अयुतानां म्हणजे 'अपृथक् भूतानां' असा चतुर्थ अर्थ करितो. परंतु 'अ-युत' याचा तर अर्थ 'न जोडलेले' अर्थात 'पृथक् वेगळे वेगळे' असा असतां त्याच्या थेट उलट अर्थ कसा काढू शकतो तें त्यालाच माहीत. बरें, 'अयुत' याचा खरा अर्थ जो 'भिन्न' तो पतकरूनही आमचें मते चतुर्थराला जो अर्थ इष्ट तो काढितां येतो. मूळ श्लोकार्थ असें आहे.

'अयुतानां सहस्राणि गतान्येकार्णवाम्भसि' याचा चतुर्थरास अभिप्रेत अर्थ असा आहे कीं, योगी जेव्हां समाधीत शुद्ध ब्रह्ममय एकरसांत मग्न असतो तेव्हां जागृतीत त्तिभेदानें हजारों हजार होणारे जे वियदादि भेद ते नष्ट होतात, हा अर्थ, 'अयुत' म्हणजे 'पृथक्' असा जालीचा अर्थ वेळून साधू शकतो. परंतु तसें न करितां चतुर्थर त्यावर अयुतानां अपृथक् भूतानां रज्ज्वादिभ्य इव उरगादिनाम् आत्मन्यध्यस्तानां वियदादीनां सहस्राणि वृत्तिभेदादनन्तानि एकार्णवे शुद्धे ब्रह्मणि गतानि विलीनानीत्यर्थ. असें म्हणून, 'नायं श्रुदि घटस्येव निवृत्तिरूपोऽयः । किंतु रज्ज्वामहेरिवेति भावः'—हें त्याचें म्हणणें विवर्तवादाला धरून आहे व त्या दृष्टीनें समजस आहे. पण तें साधण्यासाठीं 'अयुत' या शब्दाचा विपरीत अर्थ करणें मात्र आह्मांस संमत नाही. आमचें ह्मणणें, जेव्हां एकरस ब्रह्मांत विलय होतो तेव्हां पदार्थाचें 'अ-युत-त्व' पृथक्त्व आपेंआपच नष्ट होतें. सोप्याचे आटणीत भिन्न अलंकार वातले तरी त्यांचें भिन्नत्व उरणार कसें ?

त्या पुरुषोत्तमाशिवाय दुसरा कोणीही ( त्या वेळीं ) जाणला जात नाही. आकाश, पृथ्वी व वायु यांस प्रकाशित करणारा, प्रजापति, भुवनांचा अधिपति, देवांचा देव, पिता-मह, सर्व श्रुतींना आधारभूत, अशा त्या महामुनि प्रभूला महार्णवाच्या ठिकाणीं आपलें शयनस्थान करणें आवडलें. एकदां समाधीत मग्न झाला ह्मणजे तेथेंच लांचावून तो अनियमित काळपर्यंत राहतो.

## अध्याय दहावा.

—:—

### मार्कंडेयाचें मायादर्शन.

वैशंपायन सांगतात:—याप्रमाणें सर्व लोक एकार्णवमय झाले असतां तो महा तेजस्वी प्रभु, जो हरी नारायण तो सर्वपाणी आच्छादून ( जगत्संहार करून ) त्यावर निजतो. महासागरासारख्या मोठ्या अफाट रजामध्ये ( देहेंद्रियांमध्ये ) ज्यास अक्षर ब्रह्म म्हणतात असा तो रजोगुणरहित ( देहादि धर्मरहित ) महाबाहु ( योगी ) निजतो. आत्मरूप प्रकाशानें व तपानें स्वतःच्या रूपास आच्छादित करून तो अव्यय प्रभु, भूत, वर्तमान व भविष्य या तीन काळांचा अधिष्ठाता होऊन ( स्वरूप विसरून ) शयन करिता झाला ( करितो. ) पुरुष, यज्ञ इत्यादि व तशाच दुसऱ्याही पुरुषाला ज्या कांहीं संज्ञा दिलेल्या आहेत, त्या सर्व हा पुरुषोत्तमच होय. ऋत्विज या नांवाचे जे यज्ञपरायण

१ गताध्यायीं अविनाशिपदप्रापक जो योग ह्मणून सांगितला त्याच योगाचें वर्णन प्रस्तुत अध्यायांत यज्ञाच्या रूपकार्णवें केले आहे; व त्याच विषयाला धरून मार्कंडेयाचे समाधीचेंही वर्णन केले आहे; व त्याला भगवन्मायेचें दर्शन होऊन, नंतर योगेश्वर परात्माचेंही दर्शन झालें, असें सांगितलें आहे.

२ जगदुद्धाराला समर्थ जे 'प्रणव आणि तत्त्वमसि' हेच त्या योग्याचे बाहू असें चतुर्थर ह्मणतो,

ब्राह्मण ते पूर्वी या आत्मदेहापासून यज्ञानुष्ठा-  
नासाठी ( विषयोपभोगासाठी नव्हे ) कसे  
उत्पन्न झाले ते ऐका. तो प्रभु, श्रेष्ठ ब्रह्मा  
व सामवेदी उद्गाता यांस आपल्या मुखापासून  
उत्पन्न करिता झाला. होता व अध्वर्यु  
यांस त्याने आपल्या बाहूंपासून उत्पन्न केले.  
नंतर त्याने ( ब्रह्मचाच्या ब्राह्मणत्वामुळे )  
प्रस्तोता, मित्रावरुण, व प्रतिष्ठाता यांस ( सर्व  
अवयवांपासून ) उत्पन्न केले. हे भारता,  
उदरापासून प्रतिहर्ता व पोता; मांड्यांपासून  
अध्यापक व नेष्टा, व दोन्ही हातांपासून  
आग्नीध्र, सुब्रह्मण्य, प्रावस्तोता व नेता यांस  
त्याने उत्पन्न केले. याप्रमाणे त्या भगवान्  
जगत्पतीने सर्व यज्ञांच्या सोळा प्रवक्त्या  
ऋत्विजांस उत्पन्न केले. म्हणून हा यज्ञसंमित  
पुरुष वेदमय आहे. अंगे, उपनिषदे व  
क्रिया यांसह सर्व वेदही तन्मय आहेत.

तो प्रभु एकार्णवांत निजलेला असतां पूर्वी  
जे आश्चर्य झाले व मार्कंडेयाने ज्याचा अनुभव  
घेतला त्याची इत्थंभूत हकीकत ऐकू येते.  
तो महामुनि भगवंताच्या कुशीतच लय पावला.  
( उपाधिरहित होऊन लीन झाला. ) त्या  
भगवंताच्या श्रेष्ठ तेजाने त्याचे आयुष्य अनेक  
सहस्र वर्षे होतें. त्यामुळे पृथ्वीतील तीर्थांस  
गोचर होणाऱ्या ( म्हणजे त्यांचे दर्शन घेणाऱ्या )  
त्याने, तीर्थयात्रेच्या प्रसंगाने पुण्य आश्रम,  
तीर्थे, मंदिरे, देश, विचित्र राष्ट्रे व नाना पुरे ही  
( पाहिली ). तो जप व होम यांमध्ये रत  
व क्षमायुक्त होऊन घोर तपाचा आश्रय करून  
राहिला. बरेच दिवसांनंतर मार्कंडेय हळूच  
त्याच्या तोंडांतून बाहेर पडला. ( व्युत्थानाचा  
संकल्प नसतां समार्धीतून सटकून बाहेर आला ).  
परंतु त्या देवाच्या माथेमुळे, आपण बाहेर  
पडत आहो हें त्यास कळले नाही. त्याच्या  
तोंडांतून निघून तो एकार्णवांत गेला. तेथे

त्याने चोहोंकडे अंधाराने व्यापलेले ( तमाने  
सत्वाला आच्छादिलेले ) पाहिले. तेथे त्याच्या  
मनांत तीव्र भय उत्पन्न होऊन स्वतःच्या  
जगण्याचीही शंका वाटू लागली; आणि देव-  
दर्शनाने आनंद पावून तो ( वरील देवाच्याने )  
आश्चर्यचकित झाला. नंतर अतिशय शंकित  
झालेला मार्कंडेय बुचकळ्यांत पडून विचार  
करून लागला कीं, ही चिंता काय निमित्ताने  
बरे असावी ? हा काय भ्रम आहे कीं हा  
स्वप्नाचा अनुभव आहे ? खरोखर यांपैकी  
कोणता तरी एक विकार माझ्या मनाला झाला  
असला पाहिजे. असली ही असंग व  
क्लेशरहित ( वस्तु ) खरी असण्यास योग्य  
नाहीं. जो चंद्र, सूर्य व वायु यांनीं  
रहित व ज्यांतील पर्वत आणि भूतल आच्छा-  
दिलेले आहेत असा हा लोक कोणता असावा,  
या चिंतेत तो गढून गेला. त्याने पाण्याने भर-  
लेल्या मेघाप्रमाणे ( दिसत ) असलेल्या पुरु-  
षासही त्या महासागरांत पर्वताप्रमाणे निज-  
लेले पाहिले. आपल्या तेजांनीं जळत असल्या-  
प्रमाणे, प्रकाशाने देदीप्यमान होत असल्या-  
प्रमाणे, गांभीर्याने जागत असल्याप्रमाणे, व  
सापासारखे श्वास सोडीत असल्याप्रमाणे त्याने  
त्यास पाहिले. तो त्या देवास 'आपण कोण' असे  
आश्चर्याने पुसण्यास आला. तोंच हळुहळु तो  
मुनि पुनः त्याच्या कुशीत प्रवेश करिता झाला.  
पण भगवंताच्या कुशीत पुनः शिरलेला तो  
चांगला निश्चयवान् होऊन ' हें स्वप्नदर्शन  
आहे ' असे न जाणतां पुनः तसाच फिरून  
लागला. तो पूर्वीप्रमाणेच पृथ्वीवर फिरत  
सुटला, आणि भूतळी व अंतरिक्षांत त्याने  
पावित्र पुष्पतीर्थे पाहिली. उत्तम दक्षिणा देऊन  
संपविलेल्या यज्ञांनीं परमेश्वराचे पूजन कर-  
णाऱ्या शेंकडों याज्ञिय ब्राह्मणांना त्याने  
देवाच्या कुशीत असलेले पाहिले. सदाच-



रणाचा आश्रय करून राहिलेले ब्राह्मणादि सर्व वर्णांचे लोक व शास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणें उत्तम प्रकारें आचरण करणारे चारही आश्रम त्यानें पाहिले. याप्रकारें तो मार्कंडेयमुनि लक्ष वर्षेपर्यंत सर्व पृथ्वीवर फिरत राहिला; तथापि त्यास त्यास त्या कुशीचा अंत आढळला नाही.

नंतर पुनः एकदां तो केव्हां तरी त्याच्या मुखांतून बाहेर पडला, तों त्याला वटवृक्षाच्या शाखेवर एक मूल निजलेलें आढळलें. ज्याचा अंतर्भाग हिमानें आच्छादिला आहे अशा एकांणव जलांतील सर्वभूतरहित व अव्यक्त म्हणूनच भयंकर लोकांत त्या सूर्यासारख्या तेजस्वी बालकाजवळ जाण्यास, तो पुनः आश्चर्यानें चकित झालेला व कुतूहलवान मुनि समर्थ झाला नाही. म्हणून, देवमायेनें शंकित होऊन तो जलाजवळ एकांतांत बसून विचार करूं लागला कीं, 'हे मीं पूर्वी पाहिलेले नाही.' अगाध व स्तब्ध जलांत बुडी मारणारा मार्कंडेय मुनि श्रमानें त्रस्त व व्याकुल झाला व त्यास तेथें शांति मिळेना. तेव्हां योगसामर्थ्यानें बालत्वास प्राप्त झालेला भगवान् हंस पुरुषोत्तम मेघासारख्या ( गंभीर ) स्वरानें त्यास बोलला. (श्री-भगवान् ह्मणालेः) हे मार्कंडेय मुने, हे वत्सा, तूं भिऊं नकोस. येथेंच मजजवळ ये. हे धीरा, तूं श्रमानें पीडिलेला बालक आहेस. मार्कंडेय ह्मणाले, माझे वय अनेक सहस्र वर्षे असतांना माझ्या तपाचा पराभव करीत व वयाची अशी अवज्ञा करीत मला नांवांनें कोण हांका मारीत आहे? अशा प्रकारचा माझ्या नांवाचा उल्लेख देवांमध्येही माझ्या कांहीं पडला नाही. तो विश्वेश्वर ब्रह्माही मला दीर्घायुषी असें म्हणतो. असें

असतां, आपल्या जीविताची आशा सोडून हा कोण बरें तपांनें मस्तक घोर झालेल्या ( तपोवृद्ध झालेल्या ) मला 'मार्कंडेया' अशी एकेरी हांक मारून मृत्यूला गांठण्याची इच्छा करीत आहे?

वैशंपायन सांगतातः—या प्रकारें तो महामुनि मार्कंडेय रागानें बोलल्यानंतर, क्रोधपरायण अशा त्यास भगवान् पुनः म्हणालेः—अरे बाळा, मी तुझा जनक, हृषीकेश, पिता, गुरु, आयुर्दाता, व फार जुनाट आहे. असें असतां मजजवळ तूं कां येत नाहीस? पूर्वी पुत्राची इच्छा करणाऱ्या तुझ्या पित्या अंगिरा मुनीनें तीव्र तपाचा आश्रय करून प्रथम माझी आराधना केली. नंतर मीं घोर मस्तकयुक्त, अग्नीसारखा तेजस्वी, मला अति प्रिय, अमर्याद आयुष्यमान् व महर्षि—अशा तुला पुत्र म्हणून त्यास समर्पण केलें. यास्तव जो मद्रूप झालेला नाही असा दुसरा कोणीही एकांणवांत योगधर्मानें खेळत असलेल्या मला पाहण्यास समर्थ होत नाही.

प्रभूचे हे शब्द ऐकतांच प्रसन्नमुख व आश्चर्यानें नेत्र प्रफुल्लित झालेला असा तो महातपस्वी, दीर्घायुषी, व लोकपूजित मार्कंडेय मुनि, आपलें नांव व गोत्र ऐकून, मस्तकाच्या ठाई हात जोडून, प्रभूला मस्तकानें नमस्कार करिता झाला.

मार्कंडेय म्हणतातः—हे निष्पापा, ही तुझी माया तत्त्वतः जाणण्याची मी इच्छा करितों. कारण, तूं एकांणवांत बाळरूप धारण करून निजतोस. हे निष्पाप भगवन्, तुझे नांव काय? व तुला लोक काय समजतात? तूं महद्भूत आहेस असा मीं तर्क करितों. पण येथें कोण-तेंही भूत नाही.

श्रीभगवान् सांगतातः—मी नारायण ब्रह्मा ( सृष्टिकर्ता ) आहे. मी सर्व शरीरवान्

प्राण्यांचा जन्मदाता आहे. मीं सर्व भूतें उत्पन्न करणारा व तसेंच त्यांचा नाश करून टाकणाराही आहे. मीच इंद्रपदावर इंद्र होऊन बसतो; ऋतूंचा वत्सर ( ह्यजे ऋतूंनीं बनलेलें वर्ष ) मीच, युगांचा आवर्त मीच; मीच सर्व प्राणी व सर्व देव आहे. नागांमध्ये मीं शेष आहे व सर्व पक्ष्यांमध्ये मी गरुड आहे. मीच सहस्र शीर्षांनीं व सहस्र पादांनीं वेष्टित आहे. आदित्य, यज्ञपुरुष, यज्ञमय देव, मख, हव्य वाहून नेणारा अग्नि, महासागर, व न ढळणारा असा मीच आहे. या पृथ्वीवर तपांन पुनीत झालेल्या ब्रह्मणश्चेष्टांमध्ये बहुत जन्मांपासून ज्यांनीं आपल्या चित्ताचा निरोध केला आहे अशा ब्राह्मणांसच यति म्हणतात. असा ज्ञानवान् विश्वात्म्यास पाहिलेला, व योग्यांमध्ये योगिश्रेष्ठ ( ब्राह्मण मीं आहे. ) मीं सर्व भूतांचा कालसंज्ञक अंतक आहे. मी कर्म, क्रिया, जीव, सर्वांस धर्म दाखविणारा, निष्क्रिय, सर्व भूतांमधील स्वात्म-ज्योति, प्रधान, पुरुष, आद्य, अक्षय व अव्यय देव आहे. सर्व आश्रमांत राहणाऱ्या लोकांचा धर्म व तप मी, ह्यग्रीव देव मी, महासागरांतील क्षीरसागर मी, वाचिक व मानसिक परम सत्य मी, व मुख्य प्रजापति मीच आहे. मीच सांख्य, योग व तें श्रेष्ठपद आहे. मीच पूज्य, शंकरस्वरूपी व विद्यांचा अधिपति आहे. मीच ज्योति, वायु, भूमि, आकाश, पाणी, समुद्र, नक्षत्रें, दाही दिशा, वर्ष, चंद्र, पाऊस सूर्य, क्षीरसागर, समुद्र व वडवाग्नि आहे. मीच प्रलयकाळीं संवर्तक अग्नि होऊन जलप्राशन करणारा सूर्य, अतिशय पुराण व श्रेष्ठपरायण ( आश्रयस्थान ) आहे. मीच भूत, वर्तमान व भावि पदार्थांस कारणीभूत आहे. तूं या जगांत जें काहीं पाहातोस, ऐकतोस, किंवा अनुभवतोस तें तें सर्व माझे स्वरूप आहे. हे

मार्कंडेया, हें विश्व पूर्वी मीच उत्पन्न केलें, व आतांही मीच निर्माण करितों, पहा. व प्रत्येक युगांत हें अखिल जग मीच निर्माण करीन. म्हणून, हे मार्कंडेया, या सर्वांचा तूं नीट विचार कर. व ऐकण्याची ( किंवा माझी सेवा करण्याची ) व धर्मप्राप्तीची इच्छा असेल तर माझ्या कुशींत शिरून सुखी हो. ब्रह्म, सर्व देव व ऋषि हे सर्व माझ्या शरीरांतच आहेत. मी व्यक्त असूनही अव्यक्त व पराजित न होणारा आहे असें समज. मीच 'अ' हें अक्षर, व त्र्यक्षरी मंत्र ( ॐकार ) सर्व प्रकारें आहे. त्रिपदा गायत्री मी आहे. मीच धर्म, अर्थ व काम या तीन पुरुषार्थांचें निदर्शन आहे. ( म्ह० हे तीन पुरुषार्थ मजकडेच उद्देश्य म्हणून बोट दाखवितात. )

वैशंपायन सांगतात:—या प्रकारें महामुनि व्यासांनीं पुराणें व वेदांतशास्त्रं यांत सांगितलेलें आहे. असो.

नंतर लवकरच ( नारायणानें ) विश्वरूप धारण करून, तोंड पसरून मार्कंडेय महा-मुनीस उदरांत प्रविष्ट केलें. तेव्हां तो श्रेष्ठ मुनि भगवंताच्या कुशींत शिरून, अव्यय हंसाची सेवा करीत राहिला. व त्यामुळे तो सुखी होऊन रममाण झाला. तो हंसनामक देव अमर व विविध शरीरांचा आश्रय करून, त्या चंद्र व सूर्यरहित महार्णवांत हळु-हळु संचार करून पृथिव्यादिकांचा जय करीत करीत पुढें कालाचा फेरा येतांच अविद्यालेशानें समाधिच्छेद होतांच हें विविध भौतिक जगत् निर्माण करितो.

१ देखें 'वेदांति' या पदानें व्यासाचीं ब्रह्मसूत्रें दिष्ट असावीत असें वाटतें. व्यासाचें दुसरें एकादें 'वेदांतशास्त्र' असल्याची कोठें प्रसिद्धि नाही.

## अध्याय अकरावा.

—:०:—

## सृष्ट्युत्पत्ति.

वैशंपायन सांगतात:—तो विभु आपव ( वसिष्ठ ) महर्षि होऊन व आपला कुंभांतून उत्पन्न झालेला देह आपल्या स्वतःच्या स्वरूपानें आच्छादित करून ( समष्ट्यभिमानानें व्यापून ) तप चालू करिता झाला. नंतर तो अति बलाढ्य महात्मा विश्वरूप होऊन, लोकांच्या व पंचमहाभूतांच्या उत्पत्तीविषयी विचार करू लागला. हें जग आकाशरहित, सूक्ष्म व जलमय झालें असतां, तो ( वसिष्ठ महर्षि ) तपानें अहंकाराचें उत्थान करून विचार करू लागला. नंतर जलांत राहून तो समुद्र थोडासा खवळवू लागला. ( मी ईश्वर आहे असें समजू लागला ) नंतर तो ईश्वर दुसऱ्या उर्मीनें सूक्ष्म आकाश-संज्ञक छिद्र झाला. तेथें शब्दगति होऊन, मारुतद्रवापासून उत्पन्न झालेला तो अक्षोभ्य वारा अवकाश मिळतांच वाहू लागला. वाढत असलेल्या त्या प्रबळ वाऱ्याने तो समुद्र खवळविला; त्यामुळे एकमेकांच्या वेगानें एकमेकांवर आदळणाऱ्या लाटांनीं ( तो समुद्र ) घुसळिला. त्या क्षुब्ध झालेल्या महार्णवांत याप्रकारें पाण्याची घुसळाघुसळ चालली असतां त्यांतून कृष्णवर्त्मा व ज्वालावान् प्रभु वैश्वानर [ अग्नि ] उत्पन्न झाला. नंतर त्या अग्नीने पुष्कळ पाणी शोषून टाकिलें. समुद्राचा क्षय झाला असतां तें छिद्र आकाशरूपानें व्यक्त झालें. आत्मतेजापासून उत्पन्न झालेलें तें पुण्यजल अमृततुल्य मधुर होतें. याप्रमाणें आकाश छिद्रापासून उत्पन्न झालें, वायु

आकाशापासून उत्पन्न झाला. जलांच्या संघर्षणानें त्यापासून अग्नि उत्पन्न झाला. नंतर महाभूतांच्या कारणाची भावना करणारा तो देव त्यांकडे पाहून प्रीतियुक्त झाला. याप्रकारें महाभूतांकडे पाहून लोकांची सृष्टि, त्यांचें प्रयोजन व तत्त्व ही जाणणाऱ्या बहुरूपी भगवंतानें, चतुर्युगादि प्रमाणानें हजार युगांचा फेरा संपला असतां, ब्रह्मदेवाच्या उत्पत्तीविषयी विचार केला. पृथ्वीच्या ठायीं तपानें पुनीत झालेल्या उत्तम ब्राह्मणांपैकी अनेक जन्मांपासून जो आपल्या चित्ताचा निरोध करितो, तो ब्राह्मण चांगला यति होतो. तो ज्ञानी, विश्वरूप पाहिलेला व योगिश्रेष्ठ असतो. अशा योगवान् व संपूर्ण ऐश्वर्य आणि पराक्रम यांनीं युक्त असलेल्या आत्म्यास, योगवेत्ता परमेश्वर ब्रह्मपदावर विश्वाधिपत्याचे ठायीं नेमतो. नंतर त्या महाजलांत अच्युत हरि व तैजस ( ब्रह्मा ) निजत व खेळत नानाप्रकारें आनंद पावू लागले. तेव्हां हरीने आपल्या नाभींतून एक कमळ ( ब्रह्मांडरूपी ) उत्पन्न केलें. त्यास हजार दळे ( सहस्रावधि भोगभूमी ) असून तें निर्मळ, सूर्यासारखें व हिरण्मय ( मनोहर ) होतें. त्याची प्रभा अग्नीच्या उज्ज्वळ ज्वालांप्रमाणें होती, त्याला सुंदर वास येत होता, शरत्कालच्या विमल सूर्याप्रमाणें त्याची कांति होती. सारांश, उत्कृष्ट तेजाचें तें कमळ त्या महात्म्याच्या अंगावरील रोमांप्रमाणें खासें शोभिवंत दिसू लागलें.

१ ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूपच आहे हें विशेष स्पष्टपणें सांगण्याकरितां ब्रह्मर्षि आपवापासून अहंकारादि सर्व सृष्टीची उत्पत्ति दाखविली आहे, असें चतुर्थर्ध्न म्हणतो.

## अध्याय बारावा.

—:०:—

## पिंडब्रह्मांडैक्य.

वैशंपायन म्हणतात:—नंतर ( आपव जगदात्मा ) त्या योगवेत्त्यांतील श्रेष्ठ, सर्व भूतांचा मनोमय ( सूत्रात्मस्वरूप ), सर्व भूतांचा उत्पादक व सर्वतोमुख, अशा ब्रह्म-देवाला त्या हिरण्मय, अनेक योजनें विस्ताराच्या, सर्व प्रकारच्या तेजोगुणांनीं भरलेल्या व पार्थिव लक्षणांनीं युक्त अशा कमलांत ( नियुक्त करितो. ) त्या पद्मास पुराणवेत्ते महर्षि नारायणाच्या अंगापासून उत्पन्न झालेलें व पृथ्वीचे ठिकाणीं ( देहाचे आंत ) वाढणारें असें म्हणतात. जी पद्मासना देवी ( म्हणजे या हृत्कमलाला आधारभूत जो देह ) तीच पृथ्वी होय असेंही म्हणतात. जे या पद्मगर्भातील दृढ अंकुर ( देहांतील अस्थि ) त्यांस दिव्य पर्वत समजतात. हिमवान्, मेरु, निषध, नील, कैलास, मंदर व पर्वतश्रेष्ठ उदयगिरि, व विंध्यपर्वत—हे सर्व उपभोगांच्या साधनांनीं युक्त पर्वत, देवगणांचे, सिद्धांचे व पुण्यशील महात्म्यांचे आश्रम होत. यांच्यामधील देशास जंबुद्वीप ( कर्मभूमि ) असें म्हणतात. यज्ञिय देशाची इच्छा करणाऱ्या ब्राह्मणांनीं जंबुद्वीपाचें संख्यान या प्रकारें केलें आहे. ( पद्माच्या ) गर्भातून जे देवांच्या अमृतरसाप्रमाणें मधुर असलेले पाणी खवतें,

तेंच दिव्य तीर्थरूपी शेंकडों कटाक्ष असलेल्या दिव्य नद्या म्हणून सांगितलेलें आहे. पद्माचीं हीं जीं चोहोंकडे केसरे आहेत, तीं पृथ्वीतील असंख्यात धातुमय पर्वत होत. हे राजा, त्या कमलाच्या ज्या अनेक ऊर्ध्वमुख पाकळ्या त्याच दुर्गम पर्वतांनीं भरलेले म्लेंच्छदेश होत. त्याच्या ज्या अधोमुख पाकळ्या त्याच महात्म्या दैत्यांच्या व सर्पांच्या निवासाकरितां भागशः कल्पिलेलें पाताळ होय. त्याच्या खालीं असलेला उदक नांवाचा जो कमलचा अधोभाग त्यांत महापातकें करणारे लोक बुडतात. पद्माच्या अगदीं खालच्या टोंकाशीं जे पृथ्वीला आधारभूत जल आहे तेंच मोठें एकार्णवजल होय. त्या जलनिधीसच चार दिशांचे चार सागर असें म्हणतात. नारायणऋषीची ही महाकमलाची उत्पत्ति आहे. यास्तव या प्रादुर्भावासही ' पुष्करप्रादुर्भाव ' असें म्हणतात. याचकरितां तत्वज्ञ, यज्ञपरायण व वेदार्थ जाणणाऱ्या पुराण परमर्षींनीं यज्ञांत ' पद्मचिती ' केली आहे. याप्रमाणें त्या भगवंतांनै त्या कमलामध्ये विश्वाचा, पर्वतांचा, नद्यांचा व देवतांचा परम अवधि निर्मिलेला आहे. असो. अप्रतिम प्रभावयुक्त, प्रभाकर, महात्मा, भगवान्, प्रभु, स्वयंभु देव स्वतःच्या शयनकाळीं महासागरांत जगन्मय असंख्य कमलांची रास उत्पन्न करितां झाला.

१ गताध्यायीं अहंकारादि सृष्टि सांगितल्यावर. बाह्य व आंतरसृष्टि या उभय सृष्टींत वास्तविक भेद लेशमात्रही नाही, हें उघड करून दाखविण्याकरितां व्यासमुनि प्रकृत अध्यायीं नाभिगत कमलाचें वैभव ( व्याप्ति ) वर्णन करितात, असें चतुर्थर म्हणतो.

२ या रूपकानें पिंडब्रह्मांडाचें ऐक्य बोधित करण्याचा हेतु समजावा.

१ विदांचें पद्माकृति चयन, ते हृत्कमलाचें प्रतीक समजून त्या आकाराचें केलें असतें, हा भाव.

२ सृष्टिकर्त्याच्या हृत्कमलाचे ठायीं प्रथम सर्व सृष्टि संकल्पित होऊन मग स्थूलरूपानें बाहेर अविर्भूत होते म्हणून.

## अध्याय तेरावा.

—:०:—

## मधुकैटभवरप्रदान.

वैशंपायन सांगतात:—सहस्र युगांचा फेरा संपून पुढल्या चौकडीचा आरंभ झाला असतां तमोगुणांत उत्पन्न झालेला मधु नामक महासुर विघ्नरूप झाला. याचाच दुसरा सोबती रजोगुणांत कैटभ नांवाचा असुर उत्पन्न झाला. ते कामरूपी रजस्तमोगुणविशिष्ट राक्षस या प्रकारें उत्पन्न झाले. त्या महासुरांनीं एकांशवांतील सर्व जल क्षुब्ध केलें. काळें ( तामस ) व तांबडें ( राजस ) वस्त्र धारण केलेले, पांढऱ्या, उज्ज्वल व उग्र दाढांचे, किरीट व मुकुट यांनीं श्रेष्ठ, केयूर व कोंडे यांनीं शोभिवंत, विकार पावलेल्या मोठाल्या लाल डोळ्यांचे, पुष्ट छातीचे, महाभुज, मोठाल्या शरीरांचे व डोक्याचे, ते दोघे राक्षस जणू काय चालते बोलते पर्वतच होते. निळ्या मेघांप्रमाणें त्यांच्या शरीरांचा वर्ण होता; त्यांचीं मुखें सूर्यासारखीं तेजस्वी होतीं. विद्युद्युक्त मेघांप्रमाणें लाल हातांमुळें ते अतिशय भयंकर दिसत होते. पायांच्या चालण्यानें व वेगानें ते जणू काय महासागर उडवीतच आहेत कीं काय असें वाटे; त्या योगें शत्रूंचा नाश करणाऱ्या व निजलेल्या हरीला जणू ते हालवीतच आहेत ( असें दिसलें. ) ते दोघेजण त्या पुष्करामध्ये चोहोंकडे विहार करीत असतां त्यांनीं तेजस्वी शरीराचा, योगिश्रेष्ठ, उत्तम, जो नारायण त्याच्या आज्ञेनें

सर्व प्रजा निर्माण करीत असलेल्या अशा ( ब्रह्मदेवाला ), सर्व दैवतांना, व मानसपुत्र ऋषींनाही पाहिलें. नंतर ते दोघे मदोन्मत्त, युद्ध करण्यास उत्सुक, क्रुद्ध व रागानें डोळे लाल झालेले असुर ब्रह्मदेवास म्हणाले:—कमलांत असलेला, शुभ्र ( सत्वगुणयुक्त ) शिरोवेष्टन धारण करणारा व चतुर्मुख असा तूं कोण ? आम्हांला मुळींच न मोजतां तूं निर्भयपणें राहिला आहेस. हे कमलोद्भवा, ये, आमच्याशीं बाहुयुद्ध कर. अनिवार अशा आमच्यापुढें युद्धांत उभे राहणें ( कोणासही ) शक्य नाही. तूं कोण ? तुला कोणी उत्पन्न केलें ? कोणी तुला या कामीं नेमिलें ? ( तुला ) उत्पन्न करणारा कोण ? ( तुझा ) सांभाळ करणारा कोण ? व त्यास काय नांवानें हांका मारितात ? ब्रह्मा ह्मणाला:—लोकांमध्ये ज्यास क ( ब्रह्मा ) म्हणतात, व जो हजारों उपायांनींही जाणला जात नाही त्या ( ईश्वरा ) पासून उत्पन्न झालेला, व योगवान् अशाला ( मला ) तुम्हीं जाणत नाहीं काय ? मधुकैटभ ह्मणाले वा महामते, आम्हां उभयतां पेशां या जगांत श्रेष्ठ असें कांहीं नाहीं. आम्हीं रज व तम या गुणांनीं सर्व विश्व आच्छादून सोडतो. यतींना दुःख देणारे आम्हीं रजस्तमोगुणरूप आहों. धर्मशीलांना आम्हीं छळतो; व सर्व देहधारी प्राण्यांस आम्हीं दुस्तर आहों. प्रत्येक युगीं आम्हींच प्रबल होऊन लोकांस मोहित करितों. आम्हींच दोघे अर्थ, काम, यज्ञ व ( स्त्री-पुत्र-धनादि ) सर्व पारिश्रह आहों. जेथें सुख, विषयानंद, संपत्ति, काम-जन्यतृप्ति व या सर्वांकरितां प्राण्यांस जें जें इष्ट आहे तें तें सर्व आम्हीं आहों, हें विचार करून जाण.

ब्रह्मा ह्मणाला:—योगवानांत जें श्रेष्ठ, व

१ प्रस्तुत अध्यायांत मधु व कैटभ नांवाचे दैत्य विष्णूनें मारिले असें सांगितलें आहे. परंतु हें रूपक आहे. मधु व कैटभ ह्मणजे खरे दैत्य नसून तमोगुण व रजोगुण यांपासून उत्पन्न होणारे लय व विक्षेप नांवाचे योगांतील अडथळे होत आणि विष्णूनें त्यांना मारणें ह्मणजे सत्याचे उत्कर्षानें ते नाहीसें करून टाकणें, एवढाच या आख्यानांतला भावार्थ समजावा असें चतुर्थराचे म्हणणें.

जें मीं पूर्वीं सांचविलें होतें, तें सर्व एकत्र करून गुणवान् झालेला मी सत्व गुणांत प्रतिष्ठित झालेला आहे. जो योगयुक्तांना परम श्रेष्ठ, जो न क्षणार्थें सत्वरूप, जो रज व तमालाही उत्पन्न करणारा, जो सर्व जीवांना कारणीभूत, ज्याच्यापासून सर्व भूतें—सात्विक व इतर—निर्माण झालीं, तोच वशी तुम्हांस युद्धांत शमविण्यास योग्य आहे. ( हें माझे काम नव्हे. )

वैशंपायन सांगतात:—नंतर, निजलेल्या व अनेक योजनें विस्तृत असलेल्या त्या श्रीमान् पद्मनाभ हृषीकेशास ते दोघे नमन करून ह्मणाले:—तूं सर्व विश्वाचा उत्पादक व पुरुषोत्तम आहेस, हे आम्हांला माहीत आहे. तुझ्या उपासनेकरितां आमचा हा सारा प्रयत्न आहे. तूं ईश्वर सफलदर्शन व सत्य आहेस, असें ज्या अर्थीं ज्ञानी तुला जाणतात, त्या अर्थीं, हे देवा, आम्हीं दोघे तुला सर्वतः जाणण्याची इच्छा करितों. यास्तव, हे शत्रु-दमना, तुजकडून वर मिळविण्याची आम्हीं दोघेजण इच्छा करीत आहों. देवा, तुझे दर्शन फुकट न जाणारें आहे. न जिंकलेल्यांसहि जिंकणाऱ्या तुला आमचा नमस्कार असो.

श्रीभगवान् ह्मणाले:—हे असुरसत्तमहो, तुम्हांस कोणते वर पाहिजेत हें लवकर सांगा. मीं तुम्हांला दीर्घायुष्य दिलें असतां—ही, आणखी आपण अधिक जगण्याची इच्छा करितां ( हें आश्चर्य होय. ) म्हणून, हे महा-

१ येथें व्यंकटेश्वर पाठ 'मयाचितं' असा आहे. वांई-करांचा 'पूर्वमयाचितम्' असा आहे व त्याचा अर्थ त्यांनीं 'जें पूर्वीं अयाचित' असा केला आहे. पण याचा अर्थबोध आद्वास होत नाही 'अयाचित' तें कसे? आमचा पाठ 'पूर्वमयाचितम्' असा आहे. व तोच आद्वास समंजस वाटतो. कलकत्तापाठही असाच आहे, पण मन्मथनाथानें चितंचा अर्थ ज्ञात 'असा केला आहे. आद्वास 'संभृत' असा करणें योग्य वाटलें.

बलाढ्यांनो, ज्याकरितां तुमचा हा यत्न आहे तें तुम्हांस मिळो; पण तुम्हीं ( मला ) वध्य व्हाल, असें हरि त्या दोघांस म्हणाला. ते दोघेही महात्मे ऊर्जित व क्षतरहित होते. मधुकैटभ ह्मणाला:—हे विभो, ज्या ठिकाणीं आजपर्यंत कोणीही मेलेला नाही, तेथें आमचा वध व्हावा, व सुराधिपा, आम्हीं तुझे पुत्र व्हावें, अशी आमची इच्छा आहे. श्रीभगवान् ह्मणाले:—बरें, येत्या कल्पांत तुम्हीं माझे उत्तम पुत्र व्हाल, यांत शंका नाही. हें मीं तुम्हांला सत्य सांगतों.

वैशंपायन सांगतात:—याप्रमाणें त्या दोघां महासुरांस वर देऊन तो सनातन, विश्वनाशक, महातेजस्वी, देवशत्रूंचा संहर्ता देव, रजस्तमोगुणांनीं भव व भावन यांच्यासारखे असलेल्या त्या दोघांस आपल्या मांड्याखालीं चिरडून टाकितो झाला.

## अध्याय चौदावा.

—:०:—

ब्रह्मदेवकृत ( योगीकृत ) सृष्टि.

वैशंपायन सांगतात:—नंतर ब्रह्मदेवच्यांतील श्रेष्ठ व महाबाहु ब्रह्मा हात वर करून ( ऊर्ध्वस्थित असलेल्या प्रणवाचें आलंबन करून ) घोर तप करीत त्या कमलांत राहिला. जळत असल्याप्रमाणें तेजस्वी, स्वतःच्या प्रकाशानें अंधकार नाहीसा करणारा व योगधर्मस्थ असा तो सहस्रकिरण सूर्याप्रमाणें भासला. नंतर आपले स्वतःचे दोन विभाग करून दुसरें रूप धारण करून, तो कल्याण करणारा, अव्यय, अचित्यात्मा व सनातन नारायण, महातेजस्वी व यशस्वी योगाचार्यही ( म्हणजे

१ प्रस्तुत अध्यायांत समाधिव्युत्थानकालीं अनुभव-वास येणारी भूर्भुवरादि व विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर-रूपी सृष्टीचें वर्णन आहे.



चित्तिनिग्रही ) झाला व महाबुद्धिमान् ब्राह्मण-  
श्रेष्ठ कपिल नांवाचा उपपत्तिप्रधान असा  
सांख्याचार्यही ( म्हणजे विचार ) झाला. हे  
दोघेही देवर्षीकडून स्तविले गेले. हे दोघेही  
योगयुक्त, चांगले ब्रह्मवेत्ते, महात्मे, उर्जिता-  
वस्था पावलेले व क्षेत्राचा (शरीराचा) विचार  
करणारे होते. पर आणि अपर ( म्ह० कारण  
व कार्य ) यांचा विशेष जाणणारे व श्रेष्ठ  
ऋषीकडून पूजिले गेलेले ते दोघे ( ऋषी )  
अमिततेजस्वी ब्रह्मदेवापार्शी येऊन म्हणाले:—  
हे ब्रह्मदेवा, तू ( प्राण्यांच्या ) बाहुल्यामुळे  
सत्य प्रकृतीचा, विश्वाचा आत्मा, जगाच्या  
राहटीला कारणीभूत, सर्व लोकसमूहाचा नेता  
व सर्व लोकांचा श्रेष्ठ गुरु आहेस. त्या दोघांचें  
तें वचन ऐकून ब्रह्मदेवानें भूः इत्यादि तीन  
व्याहृतींचा जप करून, ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतींत  
सांगितल्याप्रमाणेंच या तीन लोकांस निर्मिलें.  
नंतर त्या प्रभूनें भूः संज्ञक अव्यय मानस-  
पुत्रासही उत्पन्न केलें, त्यानंतर ब्रह्मदेवाचा  
त्याच्यावर मोठा स्नेह जडला. तो मानसपुत्र  
ब्रह्मदेवाच्या पुढें येऊन त्यास म्हणाला:—मी

कोणतें साहाय्य करूं तें आपण मला सांगावें.  
ब्रह्मा म्हणाला, 'हे महामते, हा कपिल  
नांवाचा ब्रह्मा व नारायण, हे दोघे तुला जें  
सांगतील तें तूं कर. वैशंपायन सांगतात, ब्रह्म-  
देवानें याप्रमाणें सांगतांच आपल्या पित्या-  
हूनही श्रेष्ठ असे इतके हे दोघे कोण म्हणावे  
अशा संशयांत पडून मनार्शी विस्मय करीत  
तो पुनः त्यांच्या जवळ जाऊन हात जोडून  
विचारूं लागला कीं, मी आपली सेवा करूं  
इच्छितों; तर आपलें काय काम करूं? तेव्हां  
कपिल व नारायणरूपी परमेश्वर म्हणाले, जें  
अंठरा प्रकारचें त्रिकालाबाधित व परिणामहीन  
ब्रह्म आहे, त्या सत्य व अमृत म्हणजे चिदे-  
करसमय ब्रह्माचें सतत अनुसंधान कर. वैशं-  
पायन म्हणतात, हें त्याचें वचन ऐकून तो  
उत्तर दिशेस गेला. (चिदेकरसरूप अंतिम  
अवस्थेस पोचला.) तेथें गेल्यानंतर तो ज्ञान-  
दृष्टीनें ब्रह्मत्वास प्राप्त झाला. नंतर उदार प्रभु  
ब्रह्मदेवानें ( अविद्योपाधियुक्त ईश्वरानें ) पुनः  
संकल्प करून मनानेंच दुसरा भुवः नामक पुत्र  
( सूत्रात्मा ) उत्पन्न केला. नंतर तो देखील  
ब्रह्मदेवास 'मी काय करूं' असें विचारिता  
झाला. पितामहानें आज्ञा केल्यानंतर तो पुनः  
ब्रह्मचाकडे ( नारायणाकडे ) आला. तेव्हां  
त्या ( नारायण व कपिल ) दोघांच्या उपदे-  
शानें तो पुनः भगवत्संबंधी स्थितीला पोचला.  
त्यांच्याजवळ येऊन तो परम पद मिळविता  
झाला. तोही गेल्यानंतर प्रभूनें मोक्षाच्या  
उपपत्तीमध्ये कुशल अशा तिसऱ्या शुद्ध  
सत्त्वोपाधियुक्त मानसपुत्रास उत्पन्न केलें.  
त्यास भुर्भुवः म्हणतात. त्यानें त्यांच्याच धर्माचा  
अंगीकार करून तो त्यांच्याच गतीला गेला.

१ मतभेदासुद्धें ज्याचें अष्टादश प्रकारानें प्रतिपादन  
केलें जातें.

२ विराट्, सूत्रात्मा यांप्रमाणेंच ईश्वरालाही  
लय आहे.

१ देवहूतीचा पुत्र सेश्वरसांख्यमतवादी.

२ 'इदं शरीरं कौतिय क्षेत्रमित्यभिधीयते.' भगवद्गीता.

३ नीलकंठ म्हणतो कीं, यांत योगाचार्य म्हणतो  
बंधमोक्षाची व्यवस्था लागण्यासाठीं प्राण्याचें बाहुल्य व  
प्रकृतीचें सत्यत्व हीं मानणें मला अवश्य वाटतात. सां-  
ख्याचार्याचें म्हणणें कीं सर्व एकचेतनमय आहे. आणि  
कसेही मानलें तरी 'परमात्माच सर्व लोकांचा नेता आहे  
व तो बुद्ध्यादि सर्वांचें हान करून केवळ एकटाच आद-  
रणीय आहे,' या कार्मी सांख्याचार्य व योगाचार्य यांचें  
एकमत आहे.

४ तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त । अकार  
उकार मकार इति । श्रुतिः

५ प्रभु म्हणजे योगी व त्याचा हा भूःसंज्ञक पुत्र  
म्हणजे स्थूलदेहाचे आसंगानें प्राप्त होणारा विराट्भाव  
आणि नारायण, कपिलांचे उपदेशानें तो मुक्त होणें  
म्हणजे विचार व चित्तवृत्तिनिरोध यांचे योगानें तो नष्ट  
होणें. असाच प्रकार पुढील दोन्ही मानसपुत्रांचा  
समजावा.

या प्रकारे हे तीनही पुत्र सांख्ययोगाचार्यरूपी महात्म्या शंभूचे उर्पदिष्ट होते. त्याच्या त्या पुत्रांस घेऊन नारायण व यतीश्वर भगवान् कपिल हे आपल्या ( निर्विकल्प ) गतीस गेले.

पण ते ज्या काळी मुक्त होऊन गेले त्याच वेळी तीक्ष्ण व्रत पाळणारा ब्रह्मा पुनः अतिशय घोर तप करू लागला ( निर्विकल्प समाधीत गढला. ) नंतर त्या एकत्र्याच तप करणाऱ्या प्रभु ब्रह्मचास समाधान वाटलें नाहीं; म्हणून त्याने आपलेंच अर्धशरीर शुभ भार्यारूपाने कल्पिलें. तप, तेज, कांति व नियम यांच्या योगाने आपल्यासारखी व लोकांची उत्पत्ति करण्यास समर्थ अशी भार्या त्याने उत्पन्न केली. त्यानंतर तपोमय ब्रह्मा तेथे तिजशीं रममाण होऊं लागला; व तिच्या साह्याने त्यानें सर्व प्रजापति, सागर व नद्या उत्पन्न केल्या. नंतर त्यानें वेदमाता जी त्रिपदा गायत्री ती निर्माण केली. गायत्रीपासून चार वेद निर्माण केले. आपल्याकरितां त्या पितामहाने लोककर्ते पुत्र निर्माण केले. त्यांच्यापासूनच सर्व प्रजापति व लोक निर्माण झाले. त्यानें प्रथम 'विश्वेश' नांवाच्या महातपस्वी पुत्राला उत्पन्न केलें, नंतर सर्व आश्रमांचे माहेरघर अशा पुण्य 'धर्म' नामक पुत्राला त्यानें उत्पन्न केलें. दक्ष, मरीची, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, गौतम, भृगु, आंगिरस हे पुत्र अथर्वभूत महर्षि म्हणून प्रसिद्ध आहेत. यांच्या तेरा कन्या होत्या. व त्यांचे

१ वाईकरांनीं याचा अर्थ: "अशा प्रकारचे हे तीनही पुत्र महात्म्या शंभूचे होते म्हणून सांगितलें आहे" असा केला आहे. तो केवळ शब्दांचा अर्थ झाला. पण त्याला इतिहासाचो बळकटी नाहीं. यास्तव आह्मी नीलकंठाचेच ह्मणणे स्वीकारिलें आहे.

२ ह्मणजे काढाला जाऊन ज्याप्रमाणें अग्निही आपले योनीचे ठायीं उपशम पावतो त्याचप्रमाणें सांख्ययोगज्ञान हे भूरादिक तिहींना नष्ट करून स्वतःही उपशम पावले.

वंश प्रतिष्ठित झाले. अदिति, दिति, दनु, काला, अनायु, सिंहिका, खसा, प्रबोधा, सुरसा, क्रोधा, विनता, कद्रू—या बारा व तशींच सत्तावीस नक्षत्रे या दक्षाच्या ऊर्जित कन्या होत. देव तुझे बरें करो! मरीचीचा पुत्र कश्यप प्रभु हा तपांनें निर्मिला गेला. त्यास दक्षाने या बारा कन्या दिल्या. हे जनमेजया, त्या ऋषीनें रोहिणी आदि पुण्य नक्षत्र नांवाच्या कन्या सोमनामक वसूस दिल्या. लक्ष्मी, कीर्ति, साध्य अशी विश्वा, शुभ अशी कामानुगा, व देवी मरुद्वती यांस पूर्वी ब्रह्मदेवाने उत्पन्न केलें. हे भारता, या श्रेष्ठ पांच कन्या, धर्म ज्यानें प्रत्यक्ष पाहिलेला आहे अशा ब्रह्मदेवाने देवांत श्रेष्ठ असा जो 'धर्म' त्यास दिल्या. जी अर्धशरीरमयी कामरूपिणी ब्रह्मदेवाची पत्नी तीच सुरभी गाय होऊन त्याची सेवा करित त्याजवळ राहिली. तेव्हां लोकपूजित व लोकोत्पत्तीचे कारण जाणणारा ब्रह्मदेव गायींची प्रजा वाढावी यासाठीं तिच्याशीं मैथुनधर्माने संगत झाला. तिच्या ठाई मोठे, धर्मयुक्त, संध्याकाळच्या लाल अभ्रासारखे व अग्नीसारखे तेजस्वी अकरा पुत्र झाले. ते मोठ्यानें रडत व धांवत भगवान् पितामहाकडे गेले. रोदनामुळे व धांवण्यामुळे त्यांस रुद्र असें म्हणतात. निर्ऋति, सर्प, अज, एकपाद, मृगव्याध, पिनाकी, दहन, ईश्वर, भगवान् अहिर्बुध्न्य, अपराजित कपाली व महातेजस्वी सेनानी—हे अकरा रुद्र म्हणवितात. त्याच सुरभीच्या ठाई गोवृषभ झाला; तसेच नांगरणीवांचून वाढणारे माष ( उडीद, ) सिकता ( रेती, ) प्रश्नी ( ? ) व अक्षता निघाल्या. बकरे, एकवंश, तसेंच उत्तम अमृत, तशाच उत्तम औषधि सुरभीच्या

१ वंश ह्मणजे पाठीचा कणा असा अर्थ होतो, तथापि एकवंश याचा अर्थ नीटसा लक्षांत येत नाहीं.



ठाई झाल्या. धर्मापासून लक्ष्मीजन्य काम झाला; साध्या साध्यांना उत्पन्न करिती झाली. भव, प्रभव, ईशान, सुरभि, अरण्य, मरुत, विश्वावसु, बलध्रुव, महिष, तनूज, विधान, अनघ, मत्सर व विभूति हे सर्व सुरभीचे पुत्र होत. सुपर्वत, वृष व नाग यांस लोकपूजित साध्या जन्म देती झाली. वासवानुगता देवी या पुत्रांस प्रसाविती झाली. पहिला धरदेव, दुसरा अव्यय असा ध्रुव, तिसरा विश्वावसु, चौथा सोम ( हा ) ईश्वर, पांचवा पर्वत, व त्यानंतर योगेंद्र, सातवा वायु व आठवा निर्ऋति वसु—अशा प्रकारचीं अपत्यें धर्मापासून सुरभीच्या ठाई झालीं. विश्वेदेव धर्मापासून विश्वेच्या ठायीं झाले अशी श्रुति आहे. महाबाहु सुधर्मा, महाबलाढ्य शंखपा, महाबाहु उक्थ, तसाच वपुष्मान् अनंत व महारण, हे चाक्षुष मनूपासून झालेले पुत्र होत. विश्वावसु, सुपर्वा, महायशस्वी विष्टर व सूर्यासारखा अतितेजस्वी ऋषिपुत्र रुरु, या विश्वेश्वर अशा विश्वेदेवांना देवमातेनें निर्माण केलें. मरुत्वती शुभ अशा मरुत्वत देवांस प्रसवली. अग्नि, चक्षु, हवि, ज्योति, सावित्र, मित्र, अमर, शरवृष्टि, महाभुज संक्षय, विरज, शुक्र, विश्वावसु, विभावसु, अश्मंत, चित्ररश्मि, तसाच निष्कुपित राजा नहुष, आहुति, चारित्र व बहुपन्नग—( हे ते मरुत्वत देव होत. ) बृहन्त व शत्रूंस ताप देणारा बृहद्रूप हे दोन शुभपुत्र धर्मापासून मरुत्वतीच्या ठायीं झाले. हे राजन्, कश्यपापासून अदितीच्या ठाई आदित्य झाले. इंद्र, विष्णु भग, त्वष्टा, वरुण, अंश, अर्धमा, रवि, पूषा, मित्र, वरद मनु व पर्जन्य हे बारा आदित्य देवांतील श्रेष्ठ होत. आदित्यास सरस्वतीच्या ठाई दोन शुभपुत्र झाले. एक रूपश्रेष्ठ व दुसरा बलश्रेष्ठ हे दोघेही स्वर्गातील सूपवा-नांत वरिष्ठ होते. दनूनें दानवांस जन्म दिला,

व दिति दैत्यांस प्रसवली. कालेनें अनुकालके-यांस, असुरांस व राक्षसांस जन्म दिला. आधि-व्याधि हे अनायुषेचे पुत्र होत. सिंहिका ही ग्रहांची माता होय. मुनि ही गंधर्वांची जननी होय. प्रबोधेपासून श्रेष्ठ अप्सरा झाल्या. सुरसेच्या ठाई सर्प जन्मले. हे भारता, क्रोधेच्या ठाई सर्व भूतें व पिशाचें, तसेच यक्षगण व गृह्यक उत्पन्न झाले. गाई-शिवाय सर्व चतुष्पाद प्राणी सुरभीपासून झाले. अरुण व गरुड हे विनतेच्या ठाई निप-जले. पर्वत, सर्प व नाग यांस देवी कद्रूनें जन्म दिला.

याप्रकारें, हे राजन्, त्या महात्म्याच्या पौष्कर प्रादुर्भावामध्ये सर्व लोक परस्पर वृद्धि पावले. हें पौष्करसंबंधीं पुराण मीं द्वेपायनापासून ऐकिलें व त्यांना पूर्वीं परमर्षींनीं जें कथन केलें होतें तेंच त्यांनीं सांगितलें. जो महात्मा हें सर्वोत्कृष्ट पहिलें पुराण न चुकतां पढ तो, तो या लोकीं इष्टमनोरथ मिळवून शोक-रहित होतो व परलोकींही स्वर्गाचीं फळें भोगतो.

## अध्याय पंधरावा.

—:०:—

### जनमेजयाचा प्रश्न.

जनमेजय क्षणतोः—हे ब्रह्मन्, मी आमच्या वंशाचें श्रेष्ठ असें मोठें चरित्र ऐकिलें. तें दिव्य, अन्योन्यसंभूत ( एकामधून एक निघालेलें ) व अनेक गुणांनीं मान्य झालेलें आहे. तें वृत्तां-पासून झालेल्या छंदांनीं, सविस्तर समासांनीं, व लहान आणि गोड लगणाच्या पदविप्रहांनीं ग्रथित केलेलें आहे. धर्मानें, अर्थानें व भोगी

१ गताध्यायीं जें सांख्य व योग यांचें रहस्य ध्वनित केलें तेंच विस्तृत रूपानें समजून व्यावें ह्या हेतूनें प्रस्तुत अध्यायांत राजा प्रश्न करितो आहे.

पुरुषांच्या शरीरगत बहुरूपी कामानें—अशा त्रिवर्गानें तें संपन्न आहे. त्या चरित्रांत अनेक ब्राह्मणांचे प्रभाव, योद्ध्यांचे पराक्रम, वैराचें सूड उगवणें, प्रतिज्ञांची सिद्धि व शत्रूंपासूनही स्तुतीची प्राप्ति हीं दिसून येतात. पण अशांची संतती पुढें राहिली नाही; राजांशीं युद्ध केल्यामुळें त्यांचा कलह वंशाच्या विनाशालाच कारणीभूत झाला. जे राजे त्या महा भयंकर युद्धांत मारिले गेले त्यांचीं सर्व राष्ट्रे त्यांच्या मुलांस प्राप्त झालीं. भगवंताच्या आज्ञेप्रमाणें वागणारा धर्म कौरवांचा प्रख्यात राजा झाला. तीनही वर्णसंपत्तीचे धर्म बहुत प्रकारें सांगितले. हे ब्राह्मणश्रेष्ठा, शूरांचा जो विख्यात स्वर्गाला कारणीभूत ( क्षात्र ) धर्म तोही सांगितला. भूतांवर अनुग्रह करण्याकरितां, त्यांना उन्मत्त करण्याकरितां नव्हे, चारी वर्णांच्या लोकांचे पृथक् पृथक् धर्म अनेक वेळां सांगितले. गर्भवासांत पडणाऱ्या प्राण्यांस जागें केलें. देवसंचार क्षीण झाला असतां व पुण्यकर्म कमी झालें असतां, प्रश्न करणाऱ्या लोकांस उद्देशून तुम्हीं दोघांनीं मिळून बनविलेला ( ज्ञान—) दानयोग बहुत प्रकारें तुम्हीं ( व्यास व वैशंपायनांनीं ) केला. त्या तुमच्या वाणीचें वचन मधुर आहे. हे महा ब्रह्मन्, भारताच्या मोठ्या अध्ययनाचें वर्णन, दिव्य दृष्टीनेंही एका दिवसांत करून सांगणें मला शक्य नाही. असो. आतां ज्ञानयज्ञाचा विस्तार, संक्षेप व चांगला संग्रह ऐकण्याची मला इच्छा आहे. त्याविषयीं मला मोठें कौतुक वाटत आहे.

## अध्याय सोळावा,

—:०:—

### योग्याचें सामर्थ्य.

वैशंपायन सांगतात:—हे राजन्, मी कथा सांगत असतां, पांचही इंद्रियें एकत्र करून निर्विकार मनानें लक्ष देऊन तूं ऐक. हे राजन्, तें ( परम तत्त्व ) ब्रह्मसंबंधानें बांधिलेलें, कर्मांनीं न बांधिलेलें, पूर्वीच ब्रह्मसंपन्न, ब्रह्मापेक्षां ( बिलकुल ) कमी नसलेलें, अव्यक्ताला कारणीभूत, नित्य व सदसदात्मक असें आहे. त्यापासून स्वयंभु निष्कल पुरुष उत्पन्न झाला. तो दिव्य असून आपल्या दिव्य शरीरानें सर्व भूतांचा अधिपति व विभु आहे. तो अचिंत्य व अव्यय असून युगांच्या उत्पत्तीस व लयास कारणीभूत आहे. तो कधीं न झालेला व न जन्मलेला असून सर्वत्र समानपणें आहे. अव्यक्तापासून जी श्रेष्ठ वस्तु झाली ( ती नारायणच होय. ) असें नारायणाला जाणणारे लोक समजतात. तें तत्त्व सर्वतः हात व पाय असलेलें, सर्वतः डोळे, मस्तकें व मुखें असलेलें, सर्वतः कान असलेलें असें असून तें सर्वांस व्यापून राहिलेलें आहे. सत् व असत् या दोहोंचेंही तें कारण आहे असें समजावें. व्यक्त वस्तूंमध्ये असून व्यापार करित असले तरी तें अव्यक्त असल्यामुळें दिसत नाही. विकारांच्या योगें कांहींसा व्यक्त होणारा तो पुरुष अव्यक्त व अरूपच आहे. तो अचिंत्य पुरुष लांकडांतील अग्नीप्रमाणें, सर्व प्राण्यांमध्ये गुप्त रीतीनें राहून कार्यें करितो. तो मागें होऊन गेलेल्या व पुढें होणाऱ्या गोष्टींचा उद्भव, त्यांचा स्वामी परमेष्ठी, प्रजापति व

सर्व लोकांचा प्रभु असून त्याचें तत्त्वतः 'अहं' हें नांव पडलें आहे. हा अहंकार अज्ञानापासून उत्पन्न झाला व त्यापासून नारायण उत्पन्न झाला. तो अव्यक्त असूनही लीलेनं ब्रह्मयोगानें ( अधिष्ठानसत्तासंबंधानें ) व्यक्त झालेला आहे. तो ब्रह्माचे ठिकाणीच आहे असें जाण; त्यामुळें त्या समर्थाला ब्रह्मा, हाच शब्द मिळाला आहे. हे भारता, तो स्थावर व जंगम अशा सर्व जगांचा प्रभु 'मी प्रजा उत्पन्न करितों' असें म्हणाला. तो सर्व भूतांचें कारण असून या सर्व प्रजा त्याचीच संतति किंवा विस्तार आहे. स्वभावानें सर्व कांहीं उत्पन्न होतें, व स्वभावानेंच सर्व कांहीं झालें. स्वभावानेंच अहंकार व हें सर्व जग उत्पन्न झालें. तो सर्वव्यापी, निरालंब, अग्राह्य, जयवान्, नित्य व ब्रह्ममय ज्योतिःस्वरूप असून 'ब्रह्म' शब्दानें उल्लेखिला जातो. स्वभावतः अव्यक्त असला तरी पांच सूक्ष्म भूतांच्या व संकल्पमात्र भावांच्या योगानें तो व्यक्ततेस आला व त्वरेनं ब्रह्मानें चितिलेलीं नाना व्यक्त स्वरूपें धारण करूं लागला.

या प्रकारें मूर्तित्व पावून, स्वभावेें करून ब्रह्मानें प्रेरित असा तो ब्रह्मा पाणी उत्पन्न करिता झाला; व त्या योगें हें सर्व जग व्यापलें आहे. पूर्वी वायु निर्माण करून तो सृष्टिकर्त्यातील उत्तम सृष्टिकर्ता, सृष्टीच्या धारणेमुळें लोकांनीं योजिलेल्या 'धातू' संज्ञेस मिळविता झाला. तें हें सर्व जग पूर्वी वायूपासून निर्माण झालें. हें समुद्रामध्ये असलेलें जग पहिल्यापासूनच देवांनीं आपल्या स्वाधीन करून घेतलें. पृथ्वी ( शब्द ) उत्पन्न करण्याच्या इच्छेनं समुद्राचे जलाजलाला त्यानें पृथक् केलें. घनत्व [ पृथ्वीचें ] व द्रवत्व [ जलाचें ] या भिन्न धर्मावरून पृथ्वी व जल यांचा भिन्नपणा सर्वांच्या अनुभवास येतो. कार्यरूप असल्यामुळें

[ कारणरूप जलांत ] लीन होणारी जलोद्भव [ भूदेवता ] आसपासचा भाग व्यापून टाकीत असल्याप्रमाणें शुभ वाणी उच्चारिती झाली. मी वर उभी राहण्याची इच्छा करित आहे; मीं गंभीर अशा जलाच्या विवरांत विरघळत आहे. मी घन [ होत ] असल्यामुळें माझा अंतर्भाग अतिशय क्षुब्ध होत आहे. यास्तव माझा उद्धार कर. [ मला वर काढ ] तदनंतर स्थानाची इच्छा करणारी व सर्व भूतांस वाढविणारी मूर्तिमती पृथ्वी यथा योग्यपणें उत्पन्न झाली. तिचें तें ओरडणें व चांगली वाणी ऐकून [ नारायणानें ] वराहरूप घेऊन महासागरांत उडी घातली. पाण्यांतून पृथ्वी वर काढण्याचें फार कठिण काम करून तो समार्धीत लीन झाला व त्यामुळें तो कोणास दिसेनासा झाला. तें 'आकाश' संज्ञक ब्रह्ममय तेज त्यांत सर्व लोकांचा पितामह ब्रह्मा उत्पन्न झाला. अद्यापि त्या सर्वयोगी धात्याकडून हें मनानें धारण केलें जातें. प्रजाचें हित करण्याच्या इच्छेनं सूक्ष्म ज्ञानयोगानें तो हें धारण करितो. आपल्या किरणांनीं जणूं काय जाळीत असलेला सूर्य पृथ्वीचा मध्य फोडून उत्पत्ति पावला व नंतर वर गेला. त्याच्या मंडळामधून सोममंडळ निघालें. तो सनातनापासून निघालेला ब्रह्मा सौम्य अशा सोमत्वाप्रत प्राप्त झाला. सोममंडळाच्या टोंकापासून वायु निघाला; तो अक्षरमय [ वेदमय ] ज्योति होऊन तिला स्वतेजानें वाढवूं लागला. तो ब्रह्मसंभव असल्यामुळें स्वभावेेंच उत्पन्न झालेला, सनातन व दिव्य असा पुरुष उत्पन्न करितो.

सारांश, द्रवरूप जल होतें तीच घनरूप पृथ्वी झाली व छिद्र जें होतें तें आकाश झालें. ज्योति होती तीच चक्षुरिंद्रिय झाली.

१ ही गोष्ट भूगर्भशास्त्राला धरून आहे.

[ भूतांच्या ] संघातानें ज्योतीपासून झालेला [ हा देह ] वायूच्या योगानें स्फुरण पावतो. पुरुषामुळेच पंचभूतमय असा मोठा पुरुषपणा यास प्राप्त झालेला आहे. त्या त्या शरीरांत सनातन असा भूतात्मा समानपणें आहे. शरीरांतील [ बुद्धिरूप ] गुहेत ज्ञान सांठविलें आहे. योगानेंच सनातन असा यज्ञपुरुष [ नारायण ] प्राप्त होतो. देहवंतांच्या देहांत जो अग्नि आहे तो सूर्याचेंच स्वरूप होय. तो नित्य धातूनीं युक्त अशा शरीरामध्ये संमत होऊन राहिलेला आहे. स्वभावानें तो क्षय पावतो, स्वभावानें तो भय पावतो, स्वभावानें त्यास शांति मिळते व कदाचित् मिळतही नाही. इंद्रियांनीं अतिमूढ झालें आहे ज्याचें मन असा तो ब्रह्मपदाविषयीं मोहित होऊन आपल्या कर्मांनीं जन्ममरण पावतो. जेथपर्यंत त्यास ब्रह्माचा विषय यथातत्त्व कळत नाही तेथपर्यंत तो संसारांत पुनःपुनः जन्मास येतो. जेव्हां तो योगज्ञ होऊन इंद्रियांपासून वेगळा होतो, तेव्हां त्यास ब्रह्मत्व प्राप्त होऊन तो स्वरूपानंदांत प्रतिष्ठित होतो. या निषिद्ध अशा [ विषयानंदमय ] लोकाचा [ त्याग करून ] तो ब्रह्मवान् [ निर्विकल्पपदारूढ ] होतो. तो रागादिकांच्या योगें क्षीण होत नाही व तो कोठेंही आसक्त होत नाही. परम सिद्धि पावलेला तो सर्वज्ञ भूतांचे येणें, जाणें, मरण व जन्म हे सर्व जाणतो. कर्म संपण्याच्या पूर्वी दृष्टिगोचर अशा विषयांच्या ठायीं आत्म्याच्या गति कशा होतात हें तो ब्रह्मपदीं प्रतिष्ठित झालेला [ सिद्ध ] जाणतो. वायूनें तरंग उत्पन्न होऊन भिन्न झालेल्या समुद्राप्रमाणें, बाढलेल्या लोभानें खवळलेल्या चित्ताच्या गांठी [ वृत्ति ] व पूर्वीच्या यातना मनानें निरुद्ध कराव्या.

ज्ञानदृष्टीनें [ कामादिक ] शत्रूंपासून निरुद्ध केलें असतां मलिन हृदय परिपक्व होतें व मग वेदांत सांगितल्याप्रमाणें आत्मा देहाच्या बंधनापासून मुक्त होतो. मग तो आपल्या विद्येनें दुसऱ्या लोकाला उत्पन्नही करील अगर एकाद्याचा नाशही करील. अथवा तेजोमूर्तीप्रमाणें तो एखादा अखंड लोकही येथें निर्माण करील. मग तो ब्रह्मनिष्ठ अशा आपल्या मनानें, नियमांप्रमाणें असलेल्या कर्मांनीं, तिर्यग्योनींमध्ये पडलेल्या जीवांनाही मुक्त करील. योगकर्माचे ठायीं क्षर व अक्षर असें दोन्ही प्रकारचें फळ व्यापून आहे; पण जेथें कर्मांनीं निश्चयेंकरून ब्रह्मच प्राप्त होतें तेथें क्षर [ नाशिवंत ] फळ प्राप्त होत नाही.

## अध्याय सतरावा.

—:०:—

### योगविधि व निष्कामकर्मफल.

वैशंपायन सांगतात:—वाढणाऱ्या सूर्यानें पृथ्वीमध्ये जें छिद्र केलें होतें त्यांत स्वभावतःच घडलेला मैनाक ( दुःखरहित ) पर्वत ठेवला गेला. पूर्वे ( म्हणजे कामना पूर्ण करणारे चिंतामणि, कामधेनु, कल्पद्रुमादिक पदार्थ ) तेथें असतात म्हणून त्यास 'पर्वत' ही संज्ञा मिळते. तो अचल ( म्हणजे न हालणारा ) असतो म्हणून त्यास अचल म्हणतात; परंतु

१ या गोष्टीचे सत्यतेविषयीं संशय वाटेल त्यांनीं पातंजल योगदर्शन यांतील विभूतिपाद वाचावा.

२ विनाशि व अविनाशि अशां उभ्याविध फळें योगबलानें मिळूं शकतात; पण अविनाशि फळ पाहिजे असेल तर नाशियंताचे ( सिद्धांचे ) नादीं लागता कामा नये—हा भाव.

३ सांप्रत अध्यायांत कर्मफलाचा परिच्छेद करण्याकरितां म्हणून योगभूचें वर्णन करून अक्षरप्राप्त्यर्थे यथाविधि योगाचें वर्णन केलें आहे, असें चतुर्थर म्हणतो.

स्वभावतः ( कल्पनामात्रत्वाने ) तो मेरूच होय. त्या पर्वताच्या अति विस्तृत पृष्ठभागीं ज्योतीपासून उत्पन्न झालेला व्यक्त ( हस्तपादादियुक्त ) व महाक्रद्धिमान् पुरुष राहातो. त्या परमात्म्यानेच वस्तुधर्माप्रमाणेच त्यास षडविलें आहे. तें जें ब्रह्ममय तेज आहे तें मस्तकाचे आंत ( सहस्रदल कमलांत ) ठेविलें आहे. त्याचेंच तें दीप्त, पुरुषाकृति व ज्योतिर्मय रूप होय. तेजानें जळत असल्याप्रमाणें तें तोंडांतून निघालें. तें चारमुखें यांनीं युक्त होतें. ( चतुर्मुख ब्रह्मारूपी होतें ) व चार उत्तम द्विर्जहि त्यासमवेत होते. त्याचें मुख हेंच ब्रह्म ह्यणजे वेद ह्यांचे निःश्वासरूपानें उद्भवस्थान होय. आणि त्या ब्रह्माला ह्यणजे वेदाला जे धारण करितात ते ब्राह्मण ह्यणवे व अशा वेदधारकांत ब्रह्मदेव हा मुख्य असल्यामुळें त्याला ब्राह्मणपुंगव ( श्रेष्ठ ) असें ह्यणतात. वेद व ब्राह्मण यांची उत्पत्ति केली तेव्हां त्या कारणानें तें महद्भूत पुनरपि पूज्यत्वास प्राप्त झालें. पूर्वीं त्यानें जलाशयांतून पृथ्वीदेवीचा उद्धार केला. ब्रह्माच्या स्थानास ( मेरुपृष्ठास ) येऊन तेंच

१ 'मेरु' शब्दाचा येथें नीलकंठांनीं 'मित एव' म्हणजे ज्याचे ठिकाणीं आत्यंतिक दुःख निवृत्तिही किंवा आत्यंतिक सुखप्राप्तीही नाही. दोन्हीही मित म्हणजे मोजक्याच आहेत अशी स्थिति असा अर्थ केला आहे.

२ येथें 'मुखादिद्रव्याग्निश्च' 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' इत्यादि ऋचा देऊन—इंद्र, अग्नि, ब्राह्मण व प्राण हे विराट् पुरुषाचे मुखापासून निघालेले चार द्विजश्रेष्ठ समजावे, असें चतुर्थर म्हणतो.

३ येथें 'महद्भूत' याचा अर्थ मन्मथनाथानें "पंचमहाभूतं जन्मास आलीं" असा केला आहे. परंतु तो चूक आहे. परमात्म्याला महद्भूत म्हणतात. 'इदं महद्भूतं मनंतमपारं' ( श्रुति ) 'एको विष्णुर्महद्भूत' ह्यां वाक्यें ध्यानांत आणावी. व 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदः' इ० हे पहावे.

तेज ब्रह्मत्वाप्रत ( चतुर्मुखत्वाप्रत ) आलें; तसेंच तें मूळ अव्यक्त असतांही ( पृथ्वीचा उद्धार करिते वेळीं ) व्यक्ततेस आलें. तेव्हां पदसंधीमध्ये ( भूसंधीत ) मेरूचें शृंग ब्रह्मलोक ( ब्रह्मसाक्षात्काराचें द्व० क्रममुक्तीचें स्थान ) झालें. तें शृंग शेंकडों व सहस्रावधि योजनें उंच होतें. असाच याच्या चौपट त्याचा विस्तार होता. अथवा त्याची लांबी, रुंदी वगैरे कोणत्याही प्राण्यास दिव्यदृष्टीनें देखील अनेक हजार वर्षांनींही मोजतां येणें शक्य नाही. शिलांनीं व्याप्त असलेल्या त्या पर्वताच्या चार बाजूंचा विस्तार, हे राजेंद्रा, शेंकडों योजनें विस्तीर्ण होता. ब्रह्मवेत्यांनीं त्याच्या सदैव ब्रह्मनिष्ठ, योगयुक्त व नित्यसिद्ध अशा विस्ताराचें परिमाण वर दिलेल्याच्याही कोटि कोटिपट ( अनंतपट ) आहे असें निश्चित केलें आहे. देवेंद्रासह मरुत्, रुद्र, तसेच वसु, विश्वेदेवासह आदित्य यांसह सर्व पृथ्वीपतीचें ( शरीराभिमानी जीवांचें ) तो भगवान् ( शुद्धचिदात्मा ) पिता-महाच्या स्वरूपानें ( मायोपाधिक रूपानें ) रक्षण करिता झाला. हे राजन्, सूर्य व वरुण ( तेज व जल ) यां योगें संघात प्राप्त झालेल्या पृथ्वीचें ( तेजोबलक्षणात्मक प्रकृतीचें ) तो विष्णूसह रक्षण करूं लागला. हे भारता, ब्रह्मापासून प्राप्त झालेल्या अशा त्या ब्राह्मशरीरानेंच हें केलें. तें विष्णुमय तेज सर्वत्र समानत्वास प्राप्त झालें. अनेक नियमांनीं युक्त, सत्यव्रतपरायण व वेदपारंग अशा ब्राह्मणांनीं यालाच 'ब्रह्म' असें म्हटलेलें आहे.

१ १ धर्म. २ ज्ञान. ३ वैराग्य व ४ ऐश्वर्य. हे योगसिद्धीला शिलेप्रमाणें वळकट टेंका देणारे असल्यामुळे येथें हें रूपक केलें आहे.

२ कारण माया ही अनंत असल्यामुळे मायाधीन हें दय्यही अनंत असणार.

३ भोग मोक्षप्रद ज्ञानाचा उपदेश करून.

याप्रकारें हे तिन्ही लोक ( विराट्, सूत्रात्मा व अंतर्यामी ) ब्रह्मदेवाच्या दिवसांत ( ब्रह्म-प्रापक योग यज्ञांत ) समाहित आहेत. ( अनु-भवास येतात. ) ब्रह्माचा दिवस असता, अव्यक्त असें ब्रह्म प्राणरूप उपाधींत प्रतिष्ठित होऊन ( अहं ) याप्रकारें जीवरूपानें व्यक्त होतें. ईश्वरानें आपल्या वेदरूपी समर्थ वाणीनें नेमून दिलेलें कर्म शुद्ध चित्ताचे व कधीही असत्याचरण न करणारे अशा लोकांकडून भक्तीनें सतत चालविलें गेलें ह्मणजे वेदपारंग ब्राह्मण त्यासच ' हित ' असें म्हणतात. जो ब्रह्माचा एक चतुर्थांश भाग ( विश्वरूपानें ) दृष्टिगोचर होत आहे, त्या ( ब्रह्म- ) भूता-त्म्यास सत्यव्रतपरायण ब्राह्मणांनीं, आपल्या अनेक भक्तिभावांमुळे ( इंद्र, मित्र, वरुण इ० ) अनेक नांवें दिलेलीं आहेत व या नांवांचा ते यज्ञांत फार उपयोग करितात. स्थूल विश्व-रूप, व सूक्ष्म मनोरूप हीं उभयही एका बुद्धीचींच रूपें आहेत, हें जाणून तो भगवान् प्रथम स्त्रीपुरुषात्मक जोडपें उत्पन्न करिता झाला. परंतु, हें जोडपें देखील त्या एक-ट्याचेंच द्विधा नटलेलें रूप असल्यामुळे तो विश्वरूपी सनातन भगवान् ब्रह्मा, देवीच्या बरोबर ( आपल्या स्त्रीरूपाबरोबर ) विपुल भोग भोगून, कश्यपादि अनुयायांसह ( कर्माचें ) आचरण करितो. तो हा भगवान् ब्रह्मा दारि-द्र्यमार्गाची इच्छा करणाऱ्या व निर्वाण पदास जाणाऱ्या ब्रह्मवेत्त्यांत श्रेष्ठ आहे. ( स्वर्गांतून पडणारी ) जलधारा हेंच ज्याचें स्वरूप आहे अशा सोर्मापासून ह्य० ब्रह्मविद्येनें युक्त अशा परमेश्वरापासून, सोम ह्य० चंद्र उत्पन्न झाला.

त्या धारेनें महेश्वराला भूतांच्या आधिपत्याचे ठाई अभिषेक केला. भूतेशाला अभिषेक करून व स्वभावतःच ते महेश्वराला भूताधिपत्य देण्याचें कर्म करून ती धारा वारंवार नाद करूं लागली; त्यामुळे तीस नदी असें म्हणूं लागले. पूज्य ब्रह्मलोकाचा हजार वेळां पराभव करून ( पर्वतादिक फोडून ) ती देवी गंगा आकाशांतून पृथ्वीवर आली व सांत फांट्यांनीं पसरली. हे राजेंद्रा, ती सहस्र वेळां व अनेक वेळां पुनः पुनः पसरते. व चंद्र हा अविद्यासंभव लोक व परलोक यांस पुष्ट करितो. त्या योगानें सर्व प्राणी ह्मणजे महाभूतांपासून झालेलीं फळेच ती वाढतात; व तेणेंकरून मनोजयी विद्वानांच्या सर्व क्रियांचे आरंभ सुरू होतात. ब्रह्मदेवाच्या चार मुखकमलांपासून निघालेली अक्षरमयी ( वेदमयी ) सिद्धि उपदेशरूप झाली. त्याचें ज्ञानमय पुण्य ( ब्रह्मा, उद्गाता, होता व अध्वर्यु ) या चार पादांनीं युक्त ( यज्ञरूप ) असून सना-तन आहे. तथापि ब्रह्मदेव जो पितामह किंवा शुद्ध ब्रह्म तोच त्याच्या स्वामित्वाचे ठायीं आहे. धर्माचे ( चार आश्रमरूपी ) चार पाद आहेत; त्यांनीं ह्या जगाचें धारण होतें. व्यक्त अशा वेदाध्ययनरूपी व ध्यानरूपी ब्रह्म-चर्यानें त्याचा एक पाद होतो. पवित्र अशा गृहस्थाश्रमानें दुसरा, गुरुविषयींच्या श्रद्धेनें युक्त अशा वानप्रस्था श्रमानें तिसरा व तद्वाक्य श्रवणानें, व ( तत्त्वमस्यादि ) गूढ विषयांत शिरण्यानें व गूढ अशा आत्मतत्त्वाचे प्रतिपादक अशा सन्यासाश्रमानें चौथा पाद होतो. या प्रकारें धर्माचे चार पाद असून ते

१ शुद्धब्रह्मच जीवरूपानें संसारांत रहाटत असतें.

२ पादोऽस्य विश्वाभूतानि. पुरुषसुक्त.

३ एकं सद्विप्रा बहुधा विदन्ति. श्रुति.

४ उभयाऽब्रह्मविद्यया सहितः=सोमः

१ नदति गर्जाति म्हणजे शब्द करिते, खळाळते म्हणून तीस नदी म्हणते.

२ सप्तगोदावरी या शब्दावरून ही गंगा म्हणजे गोदावरी असावी असें चतुर्थर म्हणतो. आम्हाला हें काहींच उकलत नाही.



ऐहिक व पारलौकिक सुखप्राप्त्यर्थ ईश्वरानें प्रवृत्त केलेले आहेत. न्यायानें व योगादि गूढ धर्माच्या आचरणानें मंडलामध्ये सोम वाढतो. ब्राह्मणांनीं ब्राह्माचे आचरण केल्यानेच वेद शाश्वतपणें राहातात. गृहस्थांनींही योगाचा संग्रह केल्यास पितरांना आनंद होतो. ऋषी धर्माच्या योगेंच पर्वतांच्या शिखरांवर राहातात. भ्रूघ्नामध्याचे ठायीं लक्ष लावून व पायांनीं वृषणांस दाबून ह्य० सिद्धासन घालून त्या ऋषींकडून चिंतन केलें जातें. मान आंखडून ( हनुवटी फांसळीमधील खळीत लावून ) पुढून छाति उठून येईल अशा प्रकारें मागून पाठ दाबून हंसत असल्याप्रमाणें ह्यणजे दांतांस दांत न भिडत इतपत तोंड उघडें ठेवून व नाभिदेशाच्या ठाई दोन्हीं हात ठेवून आणि मस्तकाचे ठाई ब्रह्माचा न्यास करून चोहोंकडून अंगाचा ( इंद्रियांचा ) प्रत्याहार करावा. योगेश्वराच्या योगानें ह्य०

( प्राणनिरोधानें ) पितामहानें पूर्वीं मनानेंच हें विश्व उत्पन्न केलें प्रत्याहार केल्यामुळे ज्याचीं इंद्रियें विषयांपासून व्यावृत्त झालीं असल्या योगी विष्णु ह्यणजे व्यापक होतो. बिंबापासून प्रतिबिंब उठल्याप्रमाणें किंवा आकाशांत उदय पावलेल्या चंद्राप्रमाणें, तेजोमूर्ति धारण करून तो देव ( प्रकाशमान ) होतो. तो योगी ब्रह्मभावाचे प्राप्तीमुळे दुसऱ्या सूर्याप्रमाणें शोभू लागतो. तो हृदयाकाशातील अतुल चैतन्य ज्योतीच्या प्रभांच्या योगें विराजमान होतो. परंतु, कियेच्या निमित्तानें नियम्य व नियामक याप्रमाणें दोन रूपें धारण करणारें शाश्वत ब्रह्म जरी प्रत्यक्ष ललाटामध्ये स्थिर आहे तरी तें मूर्खांस मिळत नाही. अध्यात्मविषयामध्ये रत असलेले लोक बुद्धिपूर्वक यत्न केल्यानें चंद्र ( इडा ) व सूर्य ( पिंगलानाडी ) यांचे संगमस्थानीं असणारें तेज जें पुढें नेत्रांतील ज्योतीरूपानें व्यक्त होतें. तें धारणेचा विषय करू शकतात.

सत्यव्रतपरायण व वेदवेत्ते ब्राह्मणच ही ज्योति पाहातात. दुसरे ही ( ज्योत ) पाहू शकत नाहीत; त्यांना अध्यात्मविषयच उमगत नाही, मग आत्मसाक्षात्काराचें नांवच नको. या भूलोकीं भूतांचा निग्रहानुग्रह करण्यास समर्थ असलेलेही कोणी योगी, अणिमादि सिद्धि प्राप्त झाल्या असतां त्यांच्या ऐश्वर्यातच त्यांचें चित्त माहोस प्राप्त होऊन ते अयोगात्मा ( योगहीन ) होतात, व अशाप्रकारें योगास प्राप्त होऊनही स्वानंदापासून च्युत झालेल्या त्या

१ याचा अर्थ, ' मन ' हें योगबलानें व्यक्तिगत अभिमान सोडून समष्ट्यभिमान धारण करतें म्हणजे त्यास विश्वव्यापकता आल्यानें तें वृद्धि पावतें, असा चतुर्धर करितो.

२ असा मूलपदाचा सामान्यतः अर्थ होतो. पण मुळांतील ' वर्तते ' या पदाचा अर्थ ' निवर्तते, बाध्यन्ते ' असा करून चतुर्धर एकूण अर्थ असा करितो कीं, ' प्रथम मनुष्य जरी वेदांपासूनच अध्यात्मज्ञान प्राप्त करून घेतो, तथापि तें प्राप्त झाल्यावर त्याला वेदांचे महत्त्व न उरल्यानें त्याला वेदही निरुपयोगी किंवा तुच्छ होतात. ' ठीक आहे. विद्यारण्यांचें असेंच म्हणणें आहे कीं, ' हातां धान्यकण लागल्यावर जसें वरील फोल फेकून देतात, तशीच गति ज्ञानोत्तर कालीं तत्प्रापक ग्रंथांची होते किंवा व्हावी. '

३ पुढच्या वर्णनावरून येथें ' पर्वताचे शिखरावर ' याचा अर्थ ' मेरुदंडाच्या वरील ब्रह्मरंध्रांत समाधिस्थ होऊन ' असाच आहे हें कळून येईल. मन्मथनाथाचा हा अध्याय येथेंच समाप्त आहे. व पुढील दोन अध्याय ( १७—१८ ) मुळींच दिले नाहीत.

१ याच प्रकारें प्राकृत लोक प्राणायाम साधून भ्रूघ्नामध्याचे ठिकाणीं धारणा करतील तर त्यांसही असलें ऐश्वर्य प्राप्त होईल.

२ हें जीवचैतन्य जोंपर्यंत देहांत कोंडलें आहे तोंपर्यंत त्याची व्याप्ति मर्यादित असते; परंतु, योगबलानें त्याला देहाचे बाहेर पसरण्याची कला साधली कीं, तें विश्वव्यापि होतें.

पुरुषास तीं ऐश्वर्ये सर्व प्राणभक्षक अशा आपल्या हिंसायोगानें पराभूत करितात ( सर्वांप्रमाणेंच त्यालाही आपल्या तावडींत आणून त्याचा नाश करितात. ) नंतर सर्व प्राण्यांची हिंसा करूं इच्छिणाऱ्या लोकांच्या कुत्सित कर्मांशीं योग घडून तीं आपल्या ठाईं जडतात. ( म्हणून योग-सिद्धीस न भुलतां ) मोक्षप्राप्तीच्या हेतूने स्थिरमनानें चंद्रमंडलाच्या स्थानापासून (निघून) चंद्राचें जें महत्तेज हृदयांत आहे तेथें शिरून गायत्रीच्या नयनामध्ये ( सगुण ब्रह्माचें प्रकाशक जें ज्योति त्या ज्योतीमध्ये ) स्थिर व्हावें. अंतर्हित किंवा अव्यक्त पुरुषात्मक तेजाचा आविर्भाव ( अकार, उकार, मकार, अर्ध-मात्रा ) अशा चार प्रकारें होतो. तो चैतन्य-रूप, इंद्रियादिकांना अगोचर, शाश्वत, निश्चित कूटस्थ व ( ह्मणून ) अव्यय असा आहे. तो रूपादि इंद्रिय गुणांनीं युक्त नसून सुखदुःखादि तेजोगुणांनीं युक्त आहे. त्याची कांति चंद्राच्या किरणांप्रमाणें स्वच्छ असून तो तेजस्वी ( सद्-पानें स्फुरणारा ) व वर्णानें राहिलेला ( ह्य० देहांतर्गत ) आहे. तो देव दोन नेत्रांपासून यजुर्वेदासह ऋग्वेद उत्पन्न करितो. त्याच्या जिह्वापासून सामवेद व मस्तकापासून अथर्व वेद झाला. व्यक्त होतांच ते वेद आपापल्या उपाधीस प्राप्त होतात; ते तत्पदास विंदंति ह्य० प्राप्त होतात म्हणून त्यांस ' वेदत्व ' प्राप्त झालें. नंतर ते वेद अगोदर सनातन ब्रह्म प्रकाशित

करून नंतर हे चारी वेद मिळून आपापल्या स्वभावभूत मनोरथांनीं दिव्यरूपाच्या पुरुषास निर्माण करितात. अथर्वणाचा जो योग तें यज्ञाचें मस्तक म्हणून म्हटलें आहे. मान व दोन्ही बाहूंमधील प्रदेश हा ऋग्वेदाचा भाग होय. हृदय व कुशी हा सामवेदाचा भाग होय. वस्तीचा वरचा भाग, कटिप्रदेश, जांघा, मांड्या, व पाय हा यजुर्वेदाचा भाग होय. या प्रकारें यज्ञकल्पित भाग आहेत. हा दिव्य-रूपाचा पुरुष अमरपदापासून उत्पन्न झाला. तो वेदमय यज्ञ सर्वही प्राण्यांस उभयलोकीं सुखप्रद आहे. कारण तो सनातन योग्ययज्ञ हिंसारहित आहे. कर्मसाध्य व सनातन योगारंभ ब्रह्मचर्यांत स्थित आहे. ( ब्रह्मचर्याचा त्यास मुख्य आधार आहे ) सर्व भूतांच्या उत्पत्तिरूप ( योगाला ) जो प्राप्त होतो [ जाणतो ] तो वेदवेत्ता होय. सर्व कर्मापासून मुक्त झालेल्या व वेदपारंग अशा मुनींकडून या लोकीं तो सिद्ध म्हणविला जातो. ती त्याची सिद्धिच आहे यांत शंका नाही. वेद व उपनिषदे यांनीं प्राप्य अशा पदाच्या प्राप्तीविषयीं नियमांनीं श्रांत झालेले व वेदपारंग ब्राह्मण यज्ञ हाच विष्णु प्रापक आहे असें म्हणतात.

जनमेजय विचारतो:—स्वेच्छेनें जें आपणच आपलें नियमन किंवा निग्रह करणारें तें मन प्रसंगीं समार्थीत लीन झालें असतां ( मुरून नाहीसें झालें असतां ) पुनरपि उदित कसें होतें, व त्याचें कारण काय हें मी ऐकूं इच्छितों. हे मुने, जसें तुला माहीत असेल तसें तें मला सांग.

१ ' पुरुषं कृष्ण पिंगलं ' वगैरे. हें हृदयस्थ पुरुषाच वर्णन आहे. किंवा लोहित, शुक्ल, कृष्ण या वर्णांनीं संकेतित जीं तेजोवन्न त्यांचा परिणाम जो हा देह तदंतर्गत असा.

२ विश्व तैजसरूपांनं नेत्रांस गम्यमान् असल्यामुळे ' नेत्रांपासून ' उत्पत्ति वर्णिली.

३ ' प्राप्त ' हा शब्दमात्रानें ज्ञात होणारा असल्यानें ' जिह्वापासून ' पासून झालें आहे.

४ हा तुर्यरूप असल्यानें ' मस्तका ' पासून असें समजावें.

१ येथें योगाचे ' सबीज ' व ' निबीज ' असे दोन भेद सांगून पहिल्याचीं, १ वितर्क. २ विचार. ३ आनंद व ४ स्मित हीं चार रूपें देऊन तीं क्रमानें १ ऋग्वेद. २ यजुर्वेद. ३ सामवेद. ४ अथर्ववेद. व १ स्थूल. २ सूक्ष्म. ३ कारण. ४ महाकारण. यांचीं द्योतक आहेत असें चतुर्थर म्हणतो.

वैशंपायन सांगतात:-हे भारता, ह्याचें (चित्ताचें) पुनरुदयाचें कांहीं बाह्य म्ह० शारीर कारण नसतें; हे राजन्, याचें कारण मानसच म्ह० अंतर्गतच असतें. शरीरानें केलेलें जें कर्म मनाचे ठिकाणीं संस्काररूपानें स्थित असतें तें समार्धीत लीन झालेल्या मनाला पुनः खेचून मार्गे आणितें. ज्या (चैतन्यानें) मनुष्ये व व्रतें पाळणारे ब्राह्मण वेद्य (जाणल्या पाहिजेत अशा) वस्तू जाणतात, त्यानेंच न कळणाऱ्याही वस्तूही जाणणें शक्य आहे; कर्मानें नाहीं. विनीत, सदा ब्रह्मसेवक व सदा तत्त्व जाणलेल्या ब्राह्मणानें, हे राजन्, सिद्धि मिळविण्यासाठीं, सदा पवित्र व ब्रह्मकर्मानें नियत राहून हात जोडून गुरुजवळ शुश्रूषेसाठीं उभें राहावें. त्या तत्त्वज्ञानें सकाळ संध्याकाळ मोक्षोपयोगी कर्मे करावीत. ब्रह्मभावानें गर्वहीन व समाधियुक्त होऊन त्या मुनीनें मनानें उत्तम अशा विष्णुपदाचें ध्यान करून तें प्रसन्न चित्तानें मिळवावें. पुनर्जन्म कोणत्या कारणांनीं येत नाहीं हें जाणणारा व चित्ताचें बंधन कोठेंही नसल्यामुळें ममताशून्य झालेला साधक निर्विकार चित्तानें परम श्रेष्ठ अशा ब्रह्मास पोचतो. त्यालाच अक्षर असें म्हणत असून हेंच तें सनातन ब्रह्म होय. विष्णुपदाच्या ठाई लीन, सर्व प्रकारच्या द्रव्यांनीं रहित व सकाम कर्माची निंदा करणारे असे जे ब्राह्मण त्यांना (निष्काम) कर्मयोग व विद्यायोग यांनीं त्याचा (ब्रह्माचा) साक्षात्कार होतो. हे राजा, प्रत्येक कर्मांत मनानें संकल्पद्वारे फळाचें ग्रहण न केल्यामुळें, पुनर्जन्मरहितांचे लोक निष्काम कर्मयोगांतच प्रतिष्ठित आहेत. निष्काम कर्मानेंच त्यांना मोक्ष प्राप्त होतो. फळाचें ग्रहण न केल्यानें तो मुक्त होतो. हे राजन्, पूर्वसंस्कारांनींच प्राण्यांना ब्राह्मणापासून निष्काम कर्माची गुरुकिल्ली मिळते. इंद्रियबंधना-

पासून मुक्त होऊन परम पदास जाऊन पोचला असतां प्राणी पुनरपि मनुष्यदेहास येत नाहीं.

## अध्याय अठरावा.

—:—

समाधी सिद्ध होण्याचे वेळचीं लक्षणें.

जनमेजय विचारतो:-ज्याच्या योगानें पुनः मनुष्यशरीर प्राप्त होत नाहीं तें ध्येय पद, योग व त्याचा उपसर्ग (विघ्न) मला सांगा.

वैशंपायन सांगतात:-ब्रह्मादि योग्यांस अनेक प्रकारें प्राप्त होणाऱ्या योगोपसर्गादिकां-विषयीं तूं जें विचारीत आहेस, तें सर्व श्रद्धा-युक्त चित्तानें सविस्तरपणें ऐक.

हे राजन्, पांच इंद्रियांत असणाऱ्या पांच सिद्धींचे (दूरश्रवण, दूरदर्शन इ०) गुण सोडून योगयुक्त मनानें ब्रह्माचें दर्शन घेणाऱ्या व सनातन ब्रह्मयज्ञ करून ब्रह्माचें चिंतन करणाऱ्या पुरुषास, संपूर्ण ऐश्वर्य (वैराग्याचें) नसल्यामुळें, अनेक प्रकारचीं विघ्न उद्भवतात. पांच ज्ञानेंद्रियसमूह, नऊ द्वारे, काम, क्रोध व लोभ यांचा जरी निश्चयात्मक बुद्धीनें चांगला निरोध केला तरी, (भिवया व ब्राण यांच्यामध्ये असलेल्या) तेजाच्या ठाई चित्ताचा योग केला असतां भयंकर धूर धुमसत असलेला दिसतो. निळ्या, तांबड्या, पिवळ्या, पांढऱ्या इत्यादि रंगांच्या धातूंच्या योगें मंजिष्ठा-

१ यांत राजानें तसतसे प्रश्न केल्यावरून योगमार्गांत येणारीं विघ्न, आसनापासून धारणेपर्यंतचीं योगांगे व ब्रह्मसाक्षात्कार होण्याचे पूर्वी दिसणारीं तुषार, धूम्र, सूर्य, अग्नि, वायु, खद्योत, विद्युत्, स्फटिक, चंद्र इत्यादिकांचीं रूपे, यांचें वर्णन केलें आहे असें चतुर्थर म्हणतो.

२ या सिद्धि आजकालही अल्प श्रमानें विशेष योगाभ्यासावांचून सामान्य जनांसही साधणाऱ्या आहेत व यांचा अनुभव अमेरिकेंत देखील कित्येक अभ्यासी लोक घेत आहेत. पण या सिद्धीस मुल्लं नये अशी आमची शास्त्रज्ञा आहे.

सारखा, पारव्यासारखा, शुद्ध वैदूर्यासारखा, पद्माच्या दळासारखा, स्फटिका मण्यासारखा, नागराजाच्या वर्णासारखा, इंद्रगोपकिड्यांसारखा, चंद्रकिरण व जल यांच्यासारखा, व इंद्रधनुष्यासारखा या प्रकारे अनेक वर्णांनी युक्त असलेले मोठे धुराचे लोट एकाच वेळी सर्व बाजूंनी येत असलेल्या मेघांप्रमाणे दिसतात. पंख असलेल्या पर्वतांप्रमाणे ते जणू काय आकाश भरून टाकतात, ते धूम्रवर्ण संघात म्हणजे पाणी असलेले मेघच होत. ते जलसमूहास ओकतात व पृथ्वीतळीं प्रवेश करितात. नंतर मस्तकप्रदेशीं मोठा मानस अग्नि पेटतो. श्रेष्ठ योगाने युक्त असा तो प्रभु शेंकडों ज्वालांनी व्यापिलेला असतो. त्या अग्नीपासून सर्व अवयवांतून शेंकडों व हजारों किटाळें, युगांतींच्या जळजळीत अग्नीप्रमाणे बाहेर पडतात. जितक्या जलवृष्टीच्या धारा तितक्याच अग्नीच्या ज्वाला जलधारांशीं मिळतात. व विपुल पृथ्वीतळावर येऊन पोंचतात. त्याने दोन वर्णांनी युक्त होणारा वायु भयंकर वाहू लागतो. तो दिव्य व सिद्ध गुणांपासून उत्पन्न झालेला व सूक्ष्म प्राण वादविणारा असतो. तो वेगवान् व भयंकर ध्वनि करणारा बलवान् वायुच प्राणरूपाने गोचर होतो. तो त्याच अग्निसमूहांशीं व धातूशीं संयोग पावून शेंकडों व हजारों नानाप्रकारच्या आकृति धारण करितो. अग्नि, वायु, जल, भूमि व धातु हे ब्रह्माने प्रेरित होऊन एकत्र झालेले आहेत; हे राजन्, ते बीजभूत आहेत; ब्रह्मवेगाने ते संघातरूपाला आलेले आहेत. दोन्ही नेत्रांच्या मध्ये असलेले जे ब्रह्म ( चैतन्य ) तोच सूक्ष्म

पुरुष व विराट् होय. त्या दोघांपासून तो पुरुषोत्तम अन्य सूक्ष्म वस्तु निर्माण करितो, तोच भगवान् व्यक्त व अव्यक्त सनातन विष्णु असून तो सर्व विद्यांचा आधार व प्रलयकाळी प्रलयाचा अंत करणारा आहे. मस्तकाचे ठाई धातूंच्या योगे बद्ध असलेल्या त्या परमात्म्याच्या ठाई, ब्रह्मचाच्या प्रेरणेने सर्व सुखदुःखाचे ज्ञाते पुरुष प्रवेश करितात. याप्रमाणे ब्रह्मसंमित झालेल्या ( योग्याच्या ) मूर्ति चेष्टा करूं लागल्या असतां त्या धरणी देवीस फोडून दाही दिशांस गेल्या. याप्रमाणे सर्व ब्रह्मनिर्मित पार्थिव ऋषि तेथेंच लय पावून भूमित्वाप्रत प्राप्त होतात. कर्मक्षय झाला असल्यास ते कर्मबंधनरूप धातूंपासून मुक्त होतात. इंद्रियांच्या बंधनापासून कर्माचा क्षय न होतां ( प्रलय काळी ) जर ते मुक्त होतील, तर तसे मुक्त झाल्यामुळे ते पुनः त्याच प्रकृतीला व अज्ञानाला कर्मगोचर ( फळांमुळे ) प्राप्त होतात. अग्निहोत्रादिकांनी तेच तपोमय झालेले असले तर क्षरापासून ( मुक्त होऊन ) धूमादि मार्गाने जातील; त्याच्या योगे न तुटलेल्या तंतूप्रमाणे जन्ममरण प्रवृत्त होतें. धूमामें मेघ होतात, मेघांपासून अतिनिर्मळ जळ होतें, जलापासून पृथ्वी झाली, भूमीत जीं फळे उत्पन्न होतात त्यांपासून रस उत्पन्न होतो, त्या रसापासून देहधाच्यांचे प्राण उत्पन्न होतात. रस हा प्राणमय असून जे सनातन ब्रह्म आहे ( तद्रूप ) आहे. तपामध्ये श्रम पावलेल्या व सत्यव्रतपरायण अशा ब्राह्मणांनी पुष्कळ कारणांनी ब्रह्मच श्रेष्ठ आहे असे ठरविलेले आहे. ते ब्रह्म स्वतःच्या भावनेने अव्यक्तापासून व्यक्तत्वास आलेले आहे, व ते सर्व भूतांच्या ठिकाणी ज्ञानाने युक्त होऊन

१ राज व तम या गुणांनी योग्याला नाड्यांमध्येच असा भास होतो.

२ किंवा ' प्राणाला गोचर ' होतो. म्हणजे प्राणास भासू लागतो.

१ ' कर्माक्षयाद्विमुच्यते ' असा पाठ असल्याखेरीज येथें अर्थ लागत नाही.

अंतरंगीं कार्य करीत आहे. हे राजेंद्रा, अनेक विषयांमध्ये गुंतलेल्या त्यास कर्मकर्ता असे म्हणतात. तें डोळ्यांना आढळून येत नाही. तपानें ज्यांचीं पापें जळून गेलीं आहेत अशा ज्ञानी ब्रह्मवाद्यांना तें ( दिव्य ) चक्षूंनीं आढळून येतें. भुवयांच्या मधून व्यक्त होणारें तें तत्त्व मेघावरणापासून सुटलेल्या सूर्याप्रमाणें भासूं लागतें. बा कुरुकुलोत्पन्ना, निर्द्वंद्व व निष्परिग्रह होऊन पक्ष्यांप्रमाणें योगधर्मानें फिरणाऱ्यांसच ह्याचें फळ मिळतें. कर्मयोग जाणणारा ब्रह्मदेव भूतांची उत्पत्ति, क्षय व नाश, व प्रलयकाळानंतर पुनः प्राण्यांच्या कर्मांची उत्पत्ति हीं शेंकडों वेळां करितो, यांत शंका नाही. धर्माची वाढ होऊन लोकांचा नाश न व्हावा म्हणून असें तो करितो. हजार युगें मिळून झालेलें हें बारा हजारांचें युग ब्रह्मयुग होय; हें युगांपैकीं पहिलें युग होय. हजार युगांच्या अंतीं प्रलयाचाही अंत करणारा संहार होतो. तेव्हां लोकांचें सूक्ष्म, निर्विकार व अचेतन असें स्वरूप बनतें. याप्रकारें प्रलय पावलेलें सनातन व कारणीभूत गुणांनीं निर्मिलेलें सर्व जग सूक्ष्म ब्रह्मस्वरूप होतें.

## अध्याय एकुणिसावा.

—:०:—

योग्याचीं राजस-तामस विघ्नं व सिद्धि.

जनमेजय ह्यणतो:—हे महामुने ब्राह्मणा, सर्व प्रकारें सगुण ब्रह्मास पोचलेल्या योग्याची

१ चालू अध्यायांत कृत, त्रेता, द्वापर इत्यादि युगांतले युगधर्म कोणते ते व्यास सांगतात—योग्याचे ठिकाणीं यद्यपि सत्वोत्कर्ष झाला ( म्हणजे कृतयुग झालें ) तरीही त्याला तो सगुणांत आहे तो मधून मधून रजस्तमाचे फट्कारे वसतात म्हणजे तो त्रेता व द्वापर यांत सांपडतो, असें रूपक येथे आहे. असें चतुर्थर म्हणतो.

पहिल्या दोन ( त्रेता व द्वापर ) युगांतील प्राचीन संतति सविस्तरपणें मी ऐकूं इच्छितों.

वैशंपायन सांगतात:—हे राजन्, दिव्य-ज्ञानसाधण्यास योग्य व श्रवणास अनुकूल अशा मनानें व बुद्धीनें जें मला विचारिलेंस तें सर्व सविस्तर सांगतों, ऐक. योगात्मा व ब्रह्मरूपानें आविर्भूत होणारा प्रभावशाली ईश्वर ( योगी ) सत्वसमृद्धीस प्राप्त होऊनही भूतांचें अनेकत्व करितो. कारण स्तंभासारख्या अचल भावानें ब्राह्मस्वरूपाचे ठिकाणीं अधिष्ठित झालेलाही प्रभु ब्रह्मा ( योगी ) रजोगुणानें विक्षिप्त होतो आणि रजःप्रादुर्भाव झाला ह्यणजे अर्थातच तेथें अनेकत्व येतें. नंतर रजोगुणापासून हजारों पदे उत्पन्न होतात. व ज्याचे योगानें तीं कार्यक्षमही होतात. अशा त्या विषयांप्रमाणेंच मोक्षाला प्रतिबंधक होणाऱ्या व केवळ मनोरथमय अशा रजोगुणाचे ठिकाणीं तो विक्षिप्त योगी अनुरक्त होतो. नंतर सर्वदा तो वेदांचे सर्वस्व—रूप ब्रह्मसंज्ञक यज्ञाची ( विष्णूची ) उपासना योगानें करितो; त्या योगें त्यास विपुल ज्ञान व ऐश्वर्य हीं अप्रार्थितच प्राप्त होतात ( परंतु यांस मुमुक्षूनें भूलूं नये. ) तर ब्रह्मीभूत अशा योगाभ्यासी योगानें हें प्राप्त झालेलें पहिलें ऐश्वर्य केवळ भूतांच्या

१ ' कृत ' पूर्वीच सांगितलें व कलि सांप्रत चालू होता, यामुळे ' आद्ययुगयोः ' म्हणजे त्रेता व द्वापर किंवा रजस्तमांचे काल असा अर्थ ध्यावा असेंच चतुर्थर म्हणतो.

२ या ठिकाणीं मूळपद ' चकार ' हें आहे व वाईकरांनीं त्याचा अर्थ ' करिता झाला ' असा नेहमीं प्रमाणें केला आहे. पण चतुर्थरानें या पदावर मुद्दाम टीप दिली आहे कीं, ' भूतार्थी न विवक्षितः । करोतीत्यर्थः । व ही टीप सयुक्तिक आहे असें पाहून आम्ही वर्तमानां प्रयोग केला आहे.

३ उत्पत्ति व कार्यक्षमता किंवा कार्यप्रवृत्ति हीं रजोगुणाचीं कार्ये आहेत. हें प्रसिद्धच आहे. गीतेंत मगवान् म्हणतात:—लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मेणाम-शभः स्पृहा इत्यादि.